- वि सं २०३८ के वर्षावास की पुण्य स्मृति में
  श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ
  नोखा चान्दावतों का
  (वाया मेड़ता, जि० नागौर)
  के अर्थ-सौजन्य से प्रकाशित

- प्रकाशक
  श्री व० स्थानकवासी जैन श्रावक संघ
  नोखा चान्दावतों का

- प्राप्तिस्थान :
  मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
  पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज०)

- प्रथमावृत्ति :
  वि० सं० २०३९ चैत्र
  ई० सन् १९८२, मार्च

- मुद्रक
  श्रीचन्द सुराना के निर्देशन में
  संजय प्रिंटिंग प्रेस, बेलनगंज आगरा-४.

: लागत मात्र १०) रुपया

प्रकाशकीय

स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय आचार्य प्रवर श्री जयमल्ल जी महाराज का पावन जीवन चरित्र गंगा की बहती धारा है, इसमें श्रद्धा और भक्तिपूर्वक जो अवगाहन करता है, वह एक अवर्णनीय शान्ति, तृप्ति, शीतलता और आनन्दानुभूति से विभोर हो उठता है। इस धारा में—त्याग की पवित्र प्रेरणा, संकल्प की उदात्त निष्ठा, निर्भयता और निस्पृहता की हृदयस्पर्शिनी उत्फुल्लता भरी है। जो आज २०० वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी चिरनवीन, चिर ऊर्जस्विल है।

श्रमण संघ के वर्तमान युवाचार्य मनीषी प्रवर श्रद्धेय श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' की महती प्रेरणा, उद्बोधन, तथा शासनसेवी स्थविर, सरलता, शुचिता के आदर्श, स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज के मार्ग दर्शन में सुख्यात कवि मनीषी पं० श्री *गोरीकृष्ण जी व्यास* ने स्व० आचार्य प्रवर के जीवन चरित्र पर जो सुन्दर, उत्कृष्ट व ललित काव्य सर्जना की है, वह वस्तुतः वाग्देवता का एक अमूल्य शृंगार सिद्ध होगा। इस प्रकार के शान्त एवं वीररस प्रधान उत्तम काव्य काव्यरसिकों के प्रमोद एवं उद्बोध के कारण बनते हैं, अतः सर्वत्र समादरणीय होते हैं।

इस काव्य का हिन्दी अनुवाद, संपादन सुविश्रुत विद्वान डा० छगनलालजी शास्त्री ने किया है, श्री शास्त्री जी युवाचार्य श्री के व्यक्तित्व से न केवल प्रभावित है, किंतु उनकी श्रुत-सेवाओं में श्रद्धापूर्वक सहयोग भी करते हैं। अनुवाद; केवल अनुवाद नहीं है, स्वयं में एक गद्य काव्य-सा लगता है।

इस काव्य का सुन्दर कलात्मक मुद्रण करने में हमारे सतत सहयोगी साहित्य-मनीषी श्रीचन्दजी सुराना ने आत्मीय सहयोग किया है, अपनी श्रद्धा-पूरित सूझ-बूझ से काव्य को सुसज्जित करने का प्रयास किया है।

इस वर्ष वि० स० २०३८ का ऐतिहासिक वर्षावास स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज, युवाचार्य श्रीजी आदि मुनि प्रवरों ने हमारे लघु-ग्राम में करने की महती कृपा की। इस चातुर्मास में त्याग-तपस्या-सेवा साधर्मि वात्सल्य आदि विविध एवं बहुमुखी शुभकार्य सम्पन्न हुए। हमारे नगरवासी एवं समस्त पारिवारिक महानुभावों के सतत सहयोग, सद्भाव एवं श्रद्धापूर्ण व्यवहार से यह चातुर्मास-एक स्मरणीय चातुर्मास बन गया। इस चातुर्मास की पुण्यस्मृति स्वरूप प्रस्तुत काव्य के प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व हमारे स्थानीय संघ ने सहर्ष वहन कर स्वयं को सौभाग्यशाली समझा है। हम सभी सहयोगी सज्जनों के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करते हुए पाठकों से इस काव्य का आनन्द प्राप्त करने की विज्ञप्ति करते हैं।

भवदीय
अध्यक्ष एवं मंत्री
श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ
नोखा चांदावतों का
(वाया-मेड़ता रोड)

[illegible] आचार्य श्री [illegible]

[illegible] : वि० सं० [illegible]

[illegible] : वि० सं० [illegible]

तपोधनी आचार्य श्री जयमलजी महाराज से उपदेश श्रवण कर रहे है। राज परिवार के साथ-नरेश
पार्श्व में आसीन—श्री रायचन्द्र जी महाराज (शिष्य)

मदीयमिदम्

त्यागवैराग्यवैदुष्यादिगुणगणप्रथितयशसां स्वनामधन्यानां तपःपूतचेतसामाचार्यपादानां श्रीजयमल्लमहाभागानां परमपुनीतायां परम्परायामुररीकृतश्रमणव्रतोऽस्यात्मसाधनायां संलग्नोऽभवमिति परमं सौभाग्यं मामकीनम्। तदुपलब्धप्रेरणयैव सम्प्रति श्रमणसंघस्य सेवाया धृतोत्साहः किमपि विदध्यामिति चिन्तनपरो वर्ते।

प्रातःस्मरणीयानां पूज्यप्रवराणां श्रीजयमल्लाचार्याणां जीवनं वस्तुतः स्वसमयवर्तिनां सर्वेषां धर्माराधकानां जनानां कृते ऽनुकरणीयमुदाहरणमासीत्। यथाहि आर्हतदर्शने 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इति यत् प्रतिपादितम्, तत्तेषां जीवने साक्षात्परिदृश्यमानमासीत्। ते आगमानां शास्त्राणाञ्च प्रौढा अध्येतार आसन्। उदग्रज्ञानाराधनया सह ते धर्मक्रियानुसरणेऽपि सुतरां दृढाः कुशलाश्चाभवन्निति स्वर्णे सौरभमिव तज्जीवनवैशिष्ट्यमस्ति स्म। समन्वयवादिता तेषां जीवने विशेषतो व्यराजत। चिन्तने निरूपणे च तेऽनेकान्तवादाधिष्ठितमरण्यास्वर्तन्त, अत एव तत्कार्यसमवायेऽप्रतिमं सौकुमार्यं सौमनस्यञ्च सहजमिव सर्वत्र समुपलब्धख्यातिकमजायत। सत्स्वपि सैद्धान्तिकेषु मतभेदेषु व्यवहारे सर्वैः सह सौहार्दानुवर्तनं तद्व्यक्तित्वगरिमाणं ख्यापयति स्म। सर्वेषु सम्प्रदायेषु तत्सहृदयतायाः प्रशस्तिर्लब्धप्रसराऽविद्यत। एतादृशाः परमदिव्यगुणोपेता महान्तो मानवा लोकेऽल्पीयान्स एव समुपलभ्यन्ते। दिवंगतानां महामहिम्नां तेषामाचार्यपादानां जीवनं स्मारयत्यस्मानद्यापि तांस्तान् पावनान् गुणान्, येषामनुसरणेन वयं स्व-पर-कल्याणाय नितरां प्रयत्नवन्तो भवितुमर्हामः।

प्रसीदाम्येतत् प्रकटयन्—कविवर्य्येण प्रखरप्रतिभाधनेन श्रीगोपीकृष्णव्याससमहोदयेन श्रीजयमल्लाचार्य-पादानां दिव्यं जीवनं समालम्ब्यामर-भारत्यां काव्यं विरचितम् यत् 'श्रीजयमल्ल-काव्यकीर्तिलता' नाम्ना प्रकाश्यमानं वरिवर्ति। दिवंगतान् पूज्यप्रवरानाचार्यपादान् प्रति कविमनस्या श्रद्धोपेता प्रशस्तिमयी भावना काव्येऽस्मिन् विविधेषु रूपेषु विशदं प्राकट्यं समुद्वहन्ती सन्दृश्यते। कविः संस्काराप्तकवित्वशक्त्या समलंकृतः, प्रधीतव्याकरणकोशकाव्यालङ्कारद्यनेकशास्त्रः, अत एव तद्रचनायां

प्राचीन चित्र की अनुकृति····

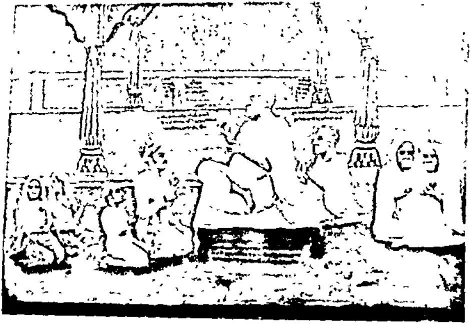

तपोधनी आचार्य श्री जयमलजी महाराज से उपदेश श्रवण कर रहे हैं। राज परिवार के साथ-नरेश
पार्श्व में आसीन—श्री रायचन्द्र जी महाराज (शिष्य)

मदीयमिदम्

त्यागवैराग्यवैदुष्यादिगुणगणप्रथितयशसां स्वनामधन्याना तपःपूतचेत-सामाचार्यपादानां श्रीजयमल्लमहाभागानां परमपुनीतायां परम्परायामुररीकृतश्रमणव्रतोऽध्यात्मसाधनाया सलग्नोऽभवमिति परम सौभाग्य मामकीनम्। तदुपलब्धप्रेरणयैव सम्प्रति श्रमणसंघस्य सेवायां धृतोत्साह. किमपि विदध्यामिति चिन्तनपरो वर्ते।

प्रातःस्मरणीयानां पूज्यप्रवराणा श्रीजयमल्लाचार्य्याणा जीवनं वस्तुतः स्वसमयवर्तिनां सर्वेषां धर्माराधकाना जनानां वृतेऽनुकरणीयमुदाहरणमासीत्। यथाहि आर्हतदर्शने 'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष.' इति यत् प्रतिपादितम्, तत्तेषां जीवने साक्षात्परिदृश्यमानमासीत्। ते आगमाना शास्त्राणाञ्च प्रौढा अध्येतारः आसन्। उदग्रज्ञानाराधनया सह ते धर्मक्रियानुसरणेऽपि सुतरा दृढाः कुशलाश्चाभवनिति स्वर्णे सौरभमिव तज्जीवनवैशिष्ट्यमस्ति स्म। समन्वयवादिता तेषा जीवने विशेषतो व्यराजत। चिन्तने निरूपणे च तेऽनेकान्तवादाधिष्ठिल-सरण्याऽवर्तन्त, अत एव तत्कार्यसमवायेऽप्रतिमं सौकुमार्यं सौमनस्यञ्च सहजमिव सर्वत्र समुपलब्धख्यातिकमजायत। सत्स्वपि सैद्धान्तिकेषु मतभेदेषु व्यवहारे सर्वै सह सौहार्दानुवर्तनं तद्व्यक्तित्वगरिमाणं ख्यापयति स्म। सर्वेषु सम्प्रदायेषु तत्सहृदयतायाः प्रशस्तिर्लब्धप्रसराऽविद्यत। एतादृशाः परम दिव्यगुणोपेता महान्तो मानवा लोकेऽल्पीयान्स एव समुपलभ्यन्ते। दिवंगताना महामहिम्ना तेषामाचार्यपादानां जीवनं स्मारयत्यस्मानद्यापि तास्तान् पावनान् गुणान्, येषामनुसरणेन वयं स्व-पर-कल्याणाय नितरां प्रयत्नवन्तो भवितुमर्हामः।

प्रसीदाम्येतत् प्रकटयन्—कविवर्य्येण प्रखरप्रतिभाधनेन श्रीगोपीकृष्णव्यासमहोदयेन श्रीजयमल्लाचार्य-पादाना दिव्यं जीवनं समालम्ब्याऽमर-भारत्या काव्यं विरचितम् यत् 'श्रीजयमल्ल-काव्यकीर्तिलता' नाम्ना प्रकाश्यमान वरिवर्ति। दिवगतान् पूज्यप्रवरानाचार्यपादान् प्रति कविमन-स्था श्रद्धोपेता प्रशस्तिमयी भावना काव्येऽस्मिन् विविधेषु रूपेषु विशदं प्राकट्यं समुद्वहन्ती सन्दृश्यते। कविः सस्काराप्तकवित्वशक्त्या समलङ्कृतः, प्रधीतव्याकरणकोशकाव्यालङ्कराद्यनेकशास्त्रः, अत एव

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

शास्त्रस्यास्य पठनेन श्रवणेन मननेन च चिन्तनेन च सह —ज्ञान-दर्शनचारित्र-निधिपतीनां पूज्यपादानां श्री जयमल्लाचार्य महाराजानां पाण्डित्यमाहात्म्यगाम्भीर्यनिशिष्ट-मुमुक्षुभावाया उत्तमोत्तमा गुणा: पाठकानां श्रोतॄणाञ्च मनःसु समुद्भावयिष्यन्ति तामपि आत्मोत्कर्षमयीं पुनीतां स्फुरणाम्, यया सम्प्रेरिताः सन्तस्ते जीवने आध्यात्मिक-मानन्दमनन्तमनुभव्य समुल्लसिष्यन्ते—इत्याशास्ति ।

—मधुकरो मुनि

मदीयम्

[हिन्दी रूपान्तर]

त्याग, वैराग्य, विद्वत्ता आदि अनेक गुणों के कारण जिनका यश सर्वत्र फैला था, जिनका चित्त तपश्चरण से पवित्र था, जो अत्यन्त प्रशस्त जीवन के थे, उन आचार्यप्रवर श्रीजयमल्लजी महाराज की परम पवित्र परम्परा में श्रमणव्रत स्वीकार कर मैं आध्यात्मिक साधना मे निरत हुआ, यह मेरा परम सौभाग्य है। वहीं से प्राप्त प्रेरणा के परिणामस्वरूप मैं श्रमणसंघ की सेवा मे उत्साह लिये कुछ कर सकूं, ऐसा सोचता हूँ।

प्रातः स्मरणीय पूज्यप्रवर आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज का जीवन वास्तव मे अपने समय के सभी धर्माराधक लोगो के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण था।

'ज्ञान और क्रिया के समन्वित आचरण से मोक्ष प्राप्त होता है' ऐसा जो जैन दर्शन मे कहा गया है, वह उनके जीवन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता था। आगमो तथा शास्त्रो का उन्हें गहन अध्ययन था। ज्ञान की उच्च आराधना के साथ-साथ वे धर्म-क्रिया के परिपालन मे भी अत्यन्त दृढ़ एव कुशल थे, जो सोने में सुगन्ध की तरह उनके जीवन की अद्‌भुत विशेषता थी। उनके जीवन मे समन्वयवादिता का महत्वपूर्ण स्थान था। वे चिन्तन और निरूपण मे अनेकान्तवादी दृष्टिकोण लिये रहते थे, इस लिए उनके कार्यों मे अनुपम सुकुमारता एव सुकोमलता सहजतया विद्यमान रहती थी, जिसकी सर्वत्र ख्याति थी। सैद्धान्तिक मतभेदो के बावजूद सबके साथ उनका सौहार्द पूर्ण व्यवहार उनके व्यक्तित्व की गरिमा का परिचायक था। सभी सम्प्रदायो मे उनकी सहृदयता की बडी प्रशस्ति थी। ऐसे अत्यन्त दिव्य गुण युक्त महापुरुष ससार मे विरले ही पाये जाते हैं। उन दिवंगत महामहिम आचार्यवर का जीवन हमे आज भी उन पवित्र गुणों को स्मरण कराता है, जिनका अनुसरण कर हम अपना और दूसरों का कल्याण साधने में अत्यन्त प्रयत्नशील हो सकते हैं।

यह प्रकट करते प्रसन्नता होती है कि प्रौढ़प्रतिभाशील कविवर श्री गोपीकृष्णजी व्यास ने आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज के पवित्र जीवन पर संस्कृत मे काव्य रचना की, जो 'श्री जयमल्ल-काव्यकीर्तिलता' के नाम से प्रकाश्यमान है। दिवंगत परमपूज्य आचार्यप्रवर के प्रति कवि के मन मे स्थित श्रद्धा तथा प्रशस्ति युक्त भावना प्रस्तुत काव्य मे विभिन्न रूपों मे अभिव्यक्ति लिये दृष्टिगोचर होती है। कवि मे सस्कार-जनित मनोज्ञ प्रतिभा है। व्याकरण, कोश, काव्य, अलङ्कार आदि अनेक शास्त्रों का गहन अध्ययन है। फलतः उनकी रचना मे प्रौढ़ता सुन्दरता तथा

स्थापिता समुल्लसित है, जिससे काव्यामृत के रसिक, सहृदय पाठकों के मन आह्लादित होंगे। प्रस्तुत काव्य में कमनीय कल्पनाओं के साथ सुरभित भावनाओं का सुन्दर साम्राज्य-सा गुंथा है।

ज्ञाप्य है, कवि वैदिक परम्परा से सम्बद्ध है अतः वर्णन में जैन सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वत्र तदनुरूपता हो, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः जहाँ कहीं यदि यत् किञ्चित् विपर्यास प्रतीत हो तो वह क्षम्य है। भावमयी कोमलकान्त पदावली द्वारा चरितनायक के धर्मोद्योतक, शान्ति, निर्वेद व वैराग्य को उत्प्रेरित करने वाले जीवन का प्रस्तुतीकरण यहाँ मुख्य लक्ष्य है, जिसे पूरा करने में कवि ने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। ऐसे महापुरुषों के चरितवर्णनमय काव्यों के रचयिता, अध्येता एवं श्रोता कर्म-निर्जरा करते हुए आत्मोज्ज्वलता की ओर आगे बढ़ते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

हिन्दी भाषी पाठक काव्यामृत से सामान्वित हों, इसे उद्दिष्ट कर संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के वेत्ता, भारतीय दर्शनों के, विशेषतः जैन दर्शन के यशस्वी विद्वान् डॉ० छगनलालजी शास्त्री ने इस काव्य का प्राञ्जल, सरल एवं सुबोध हिन्दी में अनुवाद किया है तथा पाण्डित्यपूर्ण सम्पादन किया है। अनुवाद, विवेचन एवं सम्पादन में डॉ० शास्त्री की असाधारण कुशलता व निपुणता सर्वविदित है ही।

सानुवाद होने से हिन्दीभाषी पाठक काव्य का सार स्वायत्त करते हुए तद्गत आनन्द का अनुभव कर पायेंगे, ऐसी आशा है।

डॉ० शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, जिसमें समीक्षात्मक दृष्टि से काव्य का विवेचन तथा मूल्याङ्कन है, विद्वान् पाठकों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत काव्य के पठन, श्रवण तथा मनन से विशेषतः यह लाभ होगा—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप निधि के अधिपति पूज्यप्रवर आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज के पवित्रता, सरलता, सौम्यता, तितिक्षा, मुमुक्षा आदि उत्तमोत्तम गुण पाठकों एवं श्रोताओं के मन में उत्कृष्ट भावमय एवं दिव्य स्फुरणा उद्भावित करेंगे, जिससे सम्प्रेरित हो, वे अपने जीवन में आध्यात्मिक आनन्द और आन्तरिक परितोष का अनुभव करेंगे, ऐसी आशा है।

—मधुकर मुनि

कृति के प्रेरणास्रोत :

मनस्वी प्रवर, युवाचार्य
मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर'

कृति के प्रेरणास्रोत

शासनसेवी उपप्रवर्तक पूज्य स्वामी
श्री ब्रजलालजी महाराज

प्रस्तावना

महान् काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट ने, जिन्हें संस्कृत वाङ्मय में वाग्देवी का अवतार तक कहा जाता है, बड़े प्रेरक शब्दों में लिखा है कि कवि की सृष्टि विधाता की सृष्टि से भी विलक्षण और निराली है। वहाँ नियतिकृत नियमों का बन्धन नहीं है। वास्तविक सृष्टि में सुख और दुःख का सम्मिश्रण है परन्तु कवि की सृष्टि एकमात्र आह्लाद-संयुक्त है। वास्तविक जीवन की तरह उसमें पारतन्त्र्य का कोई स्थान नहीं है। वह सर्वथा सर्वबंधनमुक्त, स्वाधीन, स्वतन्त्र है।[1]

कवीन्द्र की कल्पनाप्रवणता, सुषमा, सुरुचि, मनमय मोहिनी वसुन्धरा के सृष्ट स्वरूप से वस्तुतः यह बड़े अर्थ की बात कही है। यथार्थ कवि केवल दृश्य-दर्शनाकार नहीं होता, वह भावजगत् का अभिनव स्रष्टा होता है।

कवित्व-प्रतिभा वस्तुतः प्राकृतिक देन है इसलिए प्रतिभा-प्रसूत कल्पना-जगत् को असत्य और अयथार्थ कौन कह सकता है। सुप्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने वस्तु-सत्य और कवि-सत्य का भेद स्पष्ट करते हुए बड़ा सुन्दर लिखा, जिसका आशय है—जैसा यथार्थिक रूप में जो स्थित है, वह वस्तु सत्य है तथा जैसा हो सकता है—संभाव्य है, वह कवि-सत्य (Poetic Truth) है। इसको जरा और स्पष्ट रूप में समझें, यह संभाव्यता का भाव अपने में एक इतना विराट् आयाम जगत् समेटे रहता है, जिसमें कितने ऐसे अलक्ष्य संपुट हैं, जो आज अपूर्ण हैं, कल पूर्ण हो सकते हैं—कवित्व प्रतिभा का साहचर्य पाकर।

कवि की यह दार्शनिक पृष्ठभूमि है। इस पर खरा उतरने वाला व्यक्ति यथार्थतः कवि पद का अधिकारी है और उस द्वारा संस्फुरित काव्यधारा—शब्द-समुच्चय अपने आप में एक असाधारण चमत्कृति लिए रहता है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के कारण या समुत्पादक हेतुओं की चर्चा करते हुए सबसे अधिक महत्त्व शक्ति का स्वीकार किया है। वे लिखते हैं :—

---

१. नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥
—काव्यप्रकाश १-१

नुराग-संगत क्रौंच युगल में से एक को व्याध का बाण वेध डालता है। तब अपने जीवन-सहचर के वियोग में उसकी अनन्य सहचरी क्रौंची असीम, अगाध वेदना के साथ चीख पड़ती है। विषाद के घेरों से सघालित चीख रुक नहीं पाती। वातावरण शोक-संविग्न हो जाता है। विषाद की एक सघन-सी चादर सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। वाल्मीकि के अन्तरतम में बैठा कवि उद्‌बोधित, उत्प्रेरित, उच्चरित होता है। सहसा उनके मुख से निकल पड़ता है —

मा निषाद ! प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

अरे निषाद ! तुम शाश्वत काल तक प्रतिष्ठा नहीं पाओगे। तुमने कितना निन्द्य कर्म किया है, जीवन के उल्लास में पगे क्रौंच जोड़े में से एक का वध कर डाला ! कवि का शोक श्लोक बन गया—'शोकः श्लोकत्वमागतः।'

कविवर श्री गोपीकृष्ण व्यास में निश्चय ही सरसारवती सुन्दर कवित्व-प्रतिभा है। जब वे मेड़ता में इस काव्य की रचना कर रहे थे, मैं उनसे मिला था। वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के युवाचार्य पंडित रत्न, बहुश्रुत मनीषी, सौम्य मूर्ति मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' का वहाँ चातुर्मास था। उनके ज्येष्ठ गुरुबन्धु, साधुत्व की दिव्यमूर्ति, तपःपूतचेता, सरलमना, सन्त रत्न उपप्रवर्तक स्वामीजी श्री ब्रजलाल जी महाराज भी साथ में थे जिनके त्याग, तपोमय पावन जीवन का प्रभाव, ज्यों ही कोई उनका दर्शन करता है, पड़े बिना नहीं रहता। युवा कवि मुनि श्री विनयकुमार जी 'भीम' युवासाधक मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी 'दिनकर' भी वहीं थे। धर्मानुरागी श्रावक-समुदाय का तो नित्य प्रति आवागमन रहता ही था। एक ऐसा अध्यात्म-संयुक्त वातावरण वहाँ निर्मित हुआ, जिसमें एक कवि-हृदय उद्वेलित हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसे ही कुछ कारण रहे हों, जिनसे व्यास जी को प्रस्तुत काव्य के सर्जन की प्रेरणा मिली। जब मैंने उस समय इस काव्य के कतिपय श्लोक कवि के मुख से सुने तो, मैं प्रभावित हुआ। रचना में मुझे प्रौढ़ता एवं हृद्यता के दर्शन हुए। मैंने उनसे विशेष रूप से यह अनुरोध किया कि उन्होंने बड़ा प्रशस्त व पावन कार्य हाथ में लिया है, जिसे उन्हें सुसम्पन्न करना है।

प्रेरक वातावरण तो कवि को मिला ही, साथ ही साथ जैसा कवि ने स्वयं लिखा है,[1] विद्वद्‌रत्न युवाचार्य श्री की ओर से संप्राप्त प्रेरणा तथा वैचारिक उद्‌बोध

---

१ मधुकर-मुनिराजात् प्रेरणां प्राप्य हृद्याम्,
मुनि-विभु-गुरु-जयमल्ल-चारु-चारित्र्य-काव्यम्।
व्रज-मुनि-वर-कञ्जे सादरं गोपिकृष्णः,
निज-विरचितमेतत् स्वर्पयन् सम्प्रमोदे ॥
मधुकरादुपलभ्य जयार्णवं, सुमति-मन्थनतः परिमथ्य च।
मुनिवर-व्रजलाल-कराब्जयोः अमृतकुम्भमहं समुपार्पये ॥
—षष्ठ स्तबक, श्लोक ५१, ५

भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था, जिससे कवि को अपने कार्य में सर्वथा गतिशील रहने में सम्बल मिला। काव्य सम्पन्न हुआ। आदरास्पद युवाचार्य श्री ने मुझे स्मरण किया, इसके संपादन, अनुवाद, विवेचन आदि के लिए। अपने पिछले चार-पाँच वर्षों के सम्पर्क से निश्चय ही मैं युवाचार्य श्री के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हूँ। वे श्रमणसंघ के युवाचार्य हैं, जैन समाज में उनका बहुत बड़ा आदरपूर्ण स्थान एवं महत्व है, पर सबसे बड़ी बात, जो मैं उनमें पाता हूँ, वह है उनका निर्मल, सरल, सहज पवित्र जीवन, अहंकार तो मानो उन्हें छू भी नहीं गया है। विद्वानों तथा गुणीजनों का समादर करने में उन्हें सुख मिलता है। ये ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनका न केवल सामाजिक व राजनैतिक वरन् धार्मिक उच्च पदों पर आसीन पुरुषों में भी मिलना कठिन होता है। मुझे काव्य अच्छा लगा था। तत्वज्ञान, अध्यात्म एवं योग से सम्बद्ध व्यक्ति हूँ इसलिए वह काव्य, जिसका चरितनायक एक सर्वस्व त्यागी संन्यासी हो, स्वभावतः मेरे लिए आकर्षक होता है। मैंने अनुवाद एवं सम्पादन से पूर्व खूब गहराई के साथ प्रस्तुत काव्य में अवगाहन किया। अनेक ऐसे स्थल मेरे सामने आये, जिन्होंने मुझे सचमुच मोह लिया।

एक संन्यासी काव्य का नायक है। अतः अंगी रस के रूप में शान्त रस का आना स्वाभाविक ही है। कवि ने शान्त रस की सफल निष्पत्ति हेतु मूल आधार के रूप में चरित नायक आचार्य श्री जयमल्ल जी के जीवन का एक ऐसा प्रसंग चुना है, जो वास्तव में अद्भुत है। तब श्री जयमलजी एक सद्गृहस्थ थे। वे २२ वर्ष के युवा थे। कुछ ही महीनों पूर्व उनका विवाह हुआ था। व्यापार के सन्दर्भ में वे मेड़ता आये थे। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का दिन था। मेड़ता में उस युग के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री भूधर जी महाराज का चातुर्मास था। उस दिन चातुर्मास का अन्तिम व्याख्यान था। ब्रह्मचर्य निष्ठा का प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णन करते हुए उनका सरस कथानक श्रोताओं को सुनाया। उस दिन सब दूकानें बन्द थी, इसलिए श्री जयमलजी भी गुरु में ही व्याख्यान में उपस्थित थे।

सुदर्शन का बड़ा विचित्र आख्यान है। अक्सर कामी पुरुष अपनी दुष्कामना पूर्ति हेतु सुन्दर नारियों का हरण करते देखे, सुने जाते हैं, पर कामान्ध रानी एक सत्पुरुष का अपहरण करवाती है। कितना महान था वह पुरुष, जो हजारों प्रलोभनों के बावजूद ब्रह्मचर्य से नहीं डिगा। रानी की दुरभिसन्धि से मृत्युदण्ड की स्थिति आ जाती है। अन्ततः ब्रह्मचर्य की विजय होती है। यही सेठ सुदर्शन था ब्रह्मचर्य का साकार साक्षात् निदर्शन। श्री जयमल्लजी का मन इस रोमांचक घटना को सुनकर उद्वेलित हो उठता है। जगत् का मर्मोघात रूप उनके समक्ष नाचने लगता है। मन में परिवर्तन आ जाता है कि युवावस्था, नवोढ़ा पत्नी, सम्पन्न घर—सब छोड़कर वे श्रमण-जीवन स्वीकार कर लेते हैं। यहीं से चरित नायक का यथार्थ जीवन प्रारम्भ होता है,

जिसे कवि ने अपनी उर्वर कल्पनाशीलता से सजीव बनाकर प्रस्तुत काव्य में अत्यन्त चामत्कारिक ढंग से उपस्थित किया है।

प्रस्तुत काव्य छ स्तवकों में विभक्त है। प्रथम स्तवक में श्री जयमल्लजी के जन्म, परिवार विवाह तथा तत्कालीन गृहस्थ जीवन का लेखा जोखा है। व्याख्यानार्थ श्री जयमल्लजी के मेड़ता आने, सुनने में दत्तचित्त होने के साथ इस स्तवक का समापन होता है।

दूसरे स्तवक में आचार्य श्री भूधर जी द्वारा ब्रह्मचर्य पर दिये गये प्रवचन में सुदर्शन सेठ के कहे गये कथानक से श्री जयमल्लजी का अत्यधिक प्रभावित होना, संयममय श्रमण-जीवन स्वीकार करना, साथ ही साथ उनकी धर्म पत्नी लक्ष्मी द्वारा भी भागवती दीक्षा अंगीकार करने का रोचक, और प्रेरक वर्णन है। दीक्षा लेकर श्री जयमल्लजी आगम, शास्त्र आदि के सतत अध्ययन तथा तप के आराधन में तन्मयता के साथ जुट पड़े, जिसका कवि ने बहुत ही रोचक एवं प्रेरक शैली में वर्णन किया है। आचार में दृढ़ता, चिन्तन में उर्वरता, व्यवहार में मृदुलता आदि उत्तमोत्तम गुण, जो जयमल्लजी महाराज के जीवन में सहज रूप में परिव्याप्त थे, इस स्तवक में बड़े सुन्दर रूप में प्रकाश में आये। वे कितने बड़े तपस्वी थे, यह तो इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने लगातार सोलह वर्ष तक एकान्तर तप किया।

तीसरे स्तवक में श्री जयमल्लजी के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा उदात्त स्वभाव का चित्रण है। इसी में उल्लेख है आचार्य श्री भूधरजी महाराज जब दिवंगत हो गये तो श्री जयमल्लजी ने एक कठोर प्रतिज्ञा की कि वे अब से यावत् जीवन भूमि से पीठ सटाकर—पृथ्वी पर लेटकर कभी नहीं सोयेंगे। रात्रि में नींद भी बैठे-बैठे लेंगे। जीवन-पर्यन्त निरन्तर पचास वर्ष तक उनका यही क्रम रहा। कवि ने इस प्रसग को बड़े उद्बोधमय शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

श्री जयमल्लजी की कवित्व-प्रतिभा, सर्जना तथा चिन्तनशीलता पर भी जो वास्तव में अति उत्कृष्ट थी, इसमें अच्छा प्रकाश डाला है।

श्री जयमल्लजी बड़े उदारचेता, करुणाशील, सरल एवं सौम्य पुरुष थे। उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं से कवि अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है। यही कारण है, उसने भिन्न-भिन्न रूप में इनकी बड़ी सुन्दर चर्चा की है, जिसमें सर्वत्र नवीनता का आभास होता है।

चौथे स्तवक में आचार्यवर श्री जयमल्लजी के पादविहार, धर्मप्रसार आदि का बड़ा सजीव वर्णन है। बीकानेर, दिल्ली, जोधपुर आदि के प्रसंग बहुत रोचक हैं। जिनका कवि ने बड़ी हृद्य एवं आकर्षक शब्दावली में वर्णन किया है।

श्री जयमल्ल जी महाराज धर्म का व्यापक रूप में प्रसार करना तो चाहते थे पर वे उस कोटि के धर्म-प्रसारक नहीं थे, जो धर्म प्रसार की भावना के ...

[illegible]

[illegible]

[illegible] अनेक राजा, महाराजा, ठाकुर [illegible]

[illegible] बनाया।

पांचवें स्तवन में भी उनकी व्यथा का विशद वर्णन है। [illegible] मालों का भी इसमें समावेश है जो उपदेश की दृष्टि से [illegible] हैं।

छठे स्तवन में आचार्य श्री [illegible] महाराज की [illegible] किया [illegible] कवि ने बड़े ही उत्कृष्ट और प्रभावक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। [illegible] ध्यान, भाव-पूजा आदि का वर्णन वास्तव में अद्भुत है। [illegible] में निर्माण के प्रसंगों में कवि ने तन्त्र विज्ञान के सहारे बहुत अच्छा विवेचन किया है। इस स्तवन का पन्द्रहवाँ[1] श्लोक शब्दालंकार की चमत्कार महिमा लिये हुए है। इसमें द और र—केवल इन दो ही व्यञ्जनों का प्रयोग हुआ है। यह श्लोक कवि के

---

१. ददरदो दुर्दैदारदे दरद-द्-दुरिद्दारद्दरोद्दरो।
[illegible]

प्रौढ व्याकरण-ज्ञान, प्रखर शब्द-संयोजना तथा भाव-संगठन का एक अद्‌भुत उदाहरण है। इस स्तबक में आचार्यवर के कतिपय महत्त्वपूर्ण उपदेश-वचनों को कवि ने उर्वर कल्पनामयी शैली में प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है, जो सर्वथा स्तुत्य है।

इन छः स्तबकों में यह काव्य पूर्ण होता है। इसके बाद दो परिशिष्ट में स्थानक वासी श्वेताम्बर श्रमण संघ की पूर्व कालीन परम्परा को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम में लोकाशाह से लेकर युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी तक का संक्षिप्त विवरण उपन्यस्त है।

परिशिष्ट संख्या दो में सुदर्शन सेठ का विस्तार से आख्यान है, जो तीन अंशों या भागों में विभक्त है। वस्तुतः बात यह थी, कवि ने इस आख्यान को मूल काव्य में ही सन्निहित किया। कथानक अत्यन्त रोचक, उत्प्रेरक तथा उद्‌बोधक होने के कारण उत्कृष्ट आलम्बन के रूप में कवि के समक्ष उपस्थित था। सहज कवित्व की भाव मुद्रा में कवि प्रायः आत्म-विस्मृत हो जाता है, किस प्रसंग में कितना कहा जाना चाहिये, आत्म-विस्मृति या तन्मयता में यह भान उसे नहीं रहता अतः कभी कभी वह अति विस्तार में चला जाता है। प्रस्तुत काव्य के रचनाकार के साथ कुछ ऐसा ही घटित हुआ प्रतीत होता है। सुदर्शन के कथानक का वर्णन तो उन्होंने कवित्व की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर और आकर्षक किया है पर उसका कलेवर बृहत् हो गया है। मूल काव्य में उसके रहने से काव्य का प्रमुख वर्णन कुछ कुछ व्याहत सा हो जाता, इसलिए इस भाग को परिशिष्ट में देना उपयुक्त लगा। इससे काव्य का प्रवाह व्याहत नहीं होगा तथा कवि द्वारा उपन्यस्त अत्यन्त सुन्दर वर्णन को पढ़ने से पाठक वंचित नहीं रहेंगे।

कवि का भाषा पर असाधारण अधिकार है, समुचित शब्द संयोजना में अद्‌भुत क्षमता है, जो कदम-कदम पर दृष्टिगोचर होती है। भाषा प्रसाद गुण युक्त है। काव्य शास्त्र में स्वीकृत माधुर्य, प्रसाद और ओज—इन तीनों में प्रसाद गुण की सुकुमारता, सरलता, सहजबोधगम्यता आदि के कारण अपनी विशेषता है।

विश्वनाथ कविराज ने बहुत सुन्दर कहा है—

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं, शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु, रसेषु रचनासु च ॥
शब्दास्तद् व्यञ्जका अर्थ-बोधकाः श्रुतिमात्रतः ।"[1]

अर्थात् जैसे अग्नि सूखे इन्धन में अतिशीघ्र व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार जो चित्त में व्याप्त हो जाता है अर्थात् अपनी सरलता, प्राञ्जलता और सुबोध्यता के कारण पाठक को प्रस्तूयमान आशय तत्क्षण आत्मसात् करा देता है, वह प्रसाद गुण है। उसका सभी रसों और सभी रचनाओं में उपयोग होता है। प्रसाद-गुण-व्यञ्जक शब्दों की अपनी यह विशेषता है कि वे सुनने मात्र से पाठ का अर्थबोध करा देते हैं।

---

१. साहित्य दर्पण ८ ७-८

प्रस्तुत शास्त्र का कवि प्रसाद गुण को अपनी रचना में संजोने में [illegible] रहा है, जो निम्नांकित श्लोकों से प्रकट है:—

"सूदरस्य वचन-प्रमाणतः, श्रीन्द्र-सत्यचरितस्य वर्णनात् ।
आबभूव जनमल्ल-मानसं, सत्यधर्म-धन-धारणे दृढम् ॥[1]

[illegible] तत्र पुरत् ! यौवनं तव नवीनमहित च ।
[illegible] बालक ! तं पुत्रानमवदत् गुरुर्यथ ॥[2]

सत्योऽपि नितान्त संयमे, स [illegible]-कठोर-साधकः ।
समभूत् ननु सर्वतोमुखी, सुमुनेस्तस्य [illegible]-साधना ॥[3]

परमार्थ-गुणस्य-विचार-परा सुमना गुरुदेव-गुणंगमिता ।
[illegible] गुरुधर्म-रता, गुम्फित शुभ-चित्त-घना समभूत् ॥[4]

जय ! तवाधारे प्रीणने मन, जय ! तवाधारे लीयते मनः ।
जय ! तवाधारे प्रस्तुतो नयम्, जय ! तवाधारे प्राणित गुरुम् ॥[5]

[illegible] है। नदी है तो [illegible] है, नदी भी आगे से आगे [illegible] रहे हैं। कहीं-कहीं इस प्रसादगुणता ने [illegible] कवि की [illegible] तथा [illegible] की दृष्टि में [illegible] और [illegible] के [illegible] वर्ण-छन्दों में अनुपम [illegible] है। [illegible] और [illegible] है [illegible] दिया जाता है।

[illegible]

[illegible]

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]
4. [illegible]
5. [illegible]

संबोधनों में कवि का अपना अलग, वैशिष्ट्य है। आचार्य श्री जयमल्ल जी के कषाय-वर्जित, माधुर्यमय व्यक्तित्व का सुन्दर चित्र निम्नांकित श्लोक में देखने ही बनता है —

> "शिवदन् स कषाय-विष ह्यमुष्क्, स्वविदन् प्रतिमाऽऽत्ममतिश्रिव ।
> हिमवर्धनवद् सुजरित्-प्रमुखे, इव हार्द-वचो मधुरन् सुमुखे ॥"[1]

तप का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए कवि ने थोड़े से शब्दों द्वारा गागर में सागर भर दिया है, लिखा है —

> "मल-निवृत्तये स.यथा पुनम्, बडरमप्यथो तापयन्ति हि ।
> बुध-जनास्तथा स्वात्म-शुद्धये, विदधिद्रुतनुं सद्वनादिना ॥
> मनसि संस्थिता ह्यन्यथा ह्यताम्, ममतयाऽपि तां सम्प्रदूषिताम् ।
> तपसि गम्भनं शुद्ध-भावनाऽमृत-जनाः स्थिता शोधयन्ति हि ॥"[2]

भाव-पूजा का कवि ने जो वर्णन किया है, वह तो वास्तव में अनूठा है। लिखा है —

> "निज-तनो सुदेवालये सदा, भज जिनेश्वरं ज्ञान-दर्पणम् ।
> महिम-कीर्ति-शङ्खैस शल्लरीम्, प्रतिनिनादयन् पूजयाऽनिशम् ॥
> मनसि धैर्य-धूपं प्रसारयन्, स्तुति-चय मधुगानि भक्तिमन् ।
> जिन-पदाब्जयो: श्रद्धयाऽर्पयन्, प्रभु-जिनेश्वरं सर्वदाऽर्चयं ॥
> हृदय-दीप-संवेग-वर्तिकाम्, शम-घृतेन विज्ज्योतिया सता ।
> ज्वलय तेन मिथ्यात्व-नाशक, द्रुतमुदेष्यति ज्ञान-भास्करः ॥
> सवितुरर्चिषा ज्ञान-चक्षुषा, तमस उद्गमस्य प्रभक्षता ।
> हृदय-मोहजं दुःखकारकम्, दुरितमज्ञ-पाप विनाशय ॥
> मनसि संयमं छादनं कुरु, ज्वलन-भाजनं ज्ञान-तैलत ।
> सुचरित्रपूर्ण कर्माष्टकं दहन् मनसिजाशता प्राग् विनाशयन् ॥
> विलयमागतेऽज्ञान-दुःखदे, निखिल - पाप - कर्मण्यशोषिते ।
> मनसि शुद्धतां प्रापितेऽखिले, स्वमवलोकयन् मोदमाप्नुया ॥"[3]

प्रस्तुत काव्य में उपमा, रूपक अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों का स्थान-स्थान पर अच्छा प्रयोग हुआ है। एक विशेषता है, अलंकार जो

---

१. स्तबक ५ श्लोक ४१
२. स्तबक ६ श्लोक ४-५
३ स्तबक ६ श्लोक ४०-४५

आये हैं, वे सर्वथा सहजता लिये हुए हैं। जहाँ अलंकार सन्निवेशना में कृत्रिमता होती है, अलंकार थोपे जाते हैं, वहाँ वे चमकीले तो लगते हैं पर भारवाही जैसे। प्रयुक्त अलंकारों की सहजता से काव्य की सुषमा और बढ़ गई है।

प्रस्तुत काव्य में सुगठित लयात्मकता (RYTHM) सहज रूप में सर्वत्र संव्याप्त है और इसमें छन्दों का वैविध्यपूर्ण उत्तम प्रयोग हुआ है।

इसमें वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, वियोगिनी, हरिणी, इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा-मिश्रित उपजाति, भुजङ्गप्रयात, मालिनी तोटक, इन्दिरा, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, स्रग्धरा, इन्द्रवंशा-वंशस्थ-मिश्रित उपजाति तथा अनुष्टुप्— छन्दों का प्रयोग हुआ है। नपे-तुले अक्षरों से गठित विभिन्न छन्दों में अव्याबाध-गति से रचना करना बड़ा दुष्कर कार्य है, निसर्गजा प्रतिभा से ही यह शक्य है। जैसा पहले उल्लेख हुआ है, कवि को प्रकृति से ही यह वरदान प्राप्त है। यही कारण है, विविध छन्दों में अत्यन्त हृद्य एवं सुकुमार रचना करने में वह सर्वथा सफल है।

जहाँ-जहाँ जिन छन्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ अनुवाद के साथ वैसा संकेत कर दिया गया है और पाद-टिप्पणों में उन छन्दों के लक्षणों का भी उल्लेख किया गया है, ताकि पाठकों को उन के स्वरूप की जानकारी हो सके।

अनुवाद अनुस्यूत प्राञ्जल एवं सरल हिन्दी में ऐसे प्रवाह और शैली के साथ किया गया है कि मूल संस्कृत के बिना भी हिन्दी भाषी पाठक केवल अनुवाद-भाग पढ़ते जाएं तो रचना की धारावाहिता और गतिशीलता में कोई व्यवधान नहीं होगा। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि मूल भाव जरा भी कहीं छूट न पाए, अनुवाद में उस की यथावत् स्पष्ट अभिव्यक्ति रहे।

संस्कृत के सहृदय विद्वान् विद्यार्थी तथा संस्कृतज्ञ नागरिक, मुझे आशा है, प्रस्तुत काव्य का परिशीलन कर ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द का अनुभव करेंगे। कवि ने इतनी सरल और सुबोध संस्कृत का इसमें प्रयोग किया है कि अच्छी हिन्दी जानने वाले अनुवाद का थोड़ा सा सहारा पाकर इसे भली भाँति हृदयंगम कर सकेंगे। साधारण पाठकों के लिए हिन्दी अनुवाद है ही। अनुवाद की प्राणवत्ता, मुझे विश्वास है, मूल इतिवृत्त का अवबोध कराने के साथ साथ काव्यगत रस की भी उन्हें अवश्य अनुभूति करायेगी।

सबसे बड़ी उपयोगिता इस काव्य की मैं यह मानता हूँ, यह एक ऐसे त्यागी, तपस्वी, उदारचेता महामानव की ज्योतिर्मय जीवन-गाथा है, जिसमें साधना की कर्मठता, निश्छल, निर्मल चारित्र्य की गरिमा, जीवन व्यवहार की मधुरिमा, निश्छल करुण एवं श्रेयस् उद्बोधन की महिमा सर्वथा ओतप्रोत थी। उनसे सम्बद्ध साधारण जनता में जीवन की सरसता एवं सुषमा बोलती है। अतः पाठकों को, निश्चय ही

इससे जीवन की एक ऐसी दिशा प्राप्त होगी, जिसका अन्तिम छोर निर्विकार, नि:स्पृह अबद्ध एवं उन्मुक्त जीवन है।

उपप्रवर्तक सन्तरत्न स्वाध्याय-रसिक स्वामीजी श्री ब्रजलाल जी महाराज की मौन-प्रेरणा, उद्‌बुद्ध चेता मनीषी, विद्वद्वरेण्य युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज का समुद्‌बोधन तथा मुनि श्री विनयकुमार 'जी 'भीम' एवं मुनि श्री महेन्द्र कुमार जी 'दिनकर' का सहयोग—ये सब मेरी इस साहित्यिक यात्रा में पावन पाथेयवत् रहे। तभी इतना शीघ्र यह कार्य संपन्न हो सका। मैं इन तपोधन सत्पुरुषों का हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में एक बार पुन. अनुरोध है, भारतीय संस्कृति, अमरवाणी संस्कृत तथा आर्य पुरुषों के पवित्र जीवन में रस लेने वाले पाठक इससे अवश्य लाभान्वित हों।

—डॉ० छगनलाल शास्त्री
[एम. ए. हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी
स्वर्णपदक-समादृत, पी एच० डी०
काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि]

कैवल्यधाम,
सरदार शहर (राजस्थान)
दिनांक २४-२-८१

अनुक्रम

विषय :

१ प्रथम स्तबक
(आचार्य श्री जयमल्लजी : जन्म, विवाह, परिवार, गार्हस्थ्य)

२. द्वितीय स्तबक
आचार्य श्री भूधरजी के प्रवचन से प्रेरणा, श्रमण-दीक्षा,
शास्त्राध्ययन, तप आराधना)

३. तृतीय स्तबक
(व्यक्तित्व, सौम्यता, करुणा, प्रतिभा, कृतित्व)

४ चतुर्थ स्तबक
(धर्मयात्रा, बीकानेर, दिल्ली, जोधपुर, आदि के प्रेरक प्रसंग
राजा और प्रजा पर समान प्रभाव)

५ पंचम स्तबक
(उद्भावक, उद्बोधक, घटनामय धर्मयात्रा के बढ़ते चरण)

६. षष्ठ स्तबक
(उपदेश-नवनीत)

७. परिशिष्ट (१)
(श्वेताम्बर स्थानकवासी श्रमण-परम्परा . संक्षिप्त दिग्दर्शन)

८. परिशिष्ट (२) (तीन खंडों में)
(सुदर्शन-आख्यान)

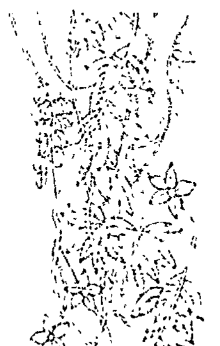

श्री जयमल्ल
काव्य कीर्तिलता

प्रथम स्तवक

(१)

वाच श्रिय तदभिसश्रितमर्थ-भावम्,
गसार-शुद्ध-पितराविव यौ स्त आद्यौ ।
तावाप्तुमाप्त - वचनात्तदधिष्ठितार्थान्,
गम्यक् प्रणम्य जयमल्ल-प्रशस्तिमीडे ॥

(२)

मन्दोऽक्रमस्य कथनाभिमति प्रनीयाम्,
विद्वज्जनस्य परिहासमतो व्रजेयम् ।
आत्माय स-पुदग - वर्णन - दिव्य - नौकाम्,
तर्तुं अपार्जित - गुणोदधिमुद्भरेयम् ॥

प्रथम स्तबक

(१)

वाणी—सरस्वती, श्री—लक्ष्मी अर्थात् शब्द एवं उसकी आभा-शक्ति तथा तद्‌गत अर्थ व भाव, जो जगत् के आद्य शुद्ध माता-पिता-उद्‌भावक-अभिव्यञ्जक हैं—जिनसे जगत् का विकास हुआ, उनकी प्राप्ति हेतु आप्त वचनानुसार उन्हें श्रद्धा तथा आदरपूर्वक नमन कर मैं (गोपीकृष्ण-व्यास) आचार्य श्री जयमल्ल जी के प्रशस्त चरित की स्तवना-सरचना करता हूं।

(इस स्तवक में यहां से पचासवें श्लोक तक वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। वसन्ततिलका में तगण, भगण, जगण, जगण तथा अन्त में दो गुरु होते हैं।)[1]

(२)

मैं अल्पबुद्धि हूं। रचनाकार के रूप में यदि मैं अभिमान करूं तो विद्वानों के उपहास का पात्र बनूंगा। किन्तु श्रद्धेय चरित-नायक को उपलक्षित कर मनीषी जन द्वारा पहले से ही प्रस्तुत वर्णन रूप नौका मुझे प्राप्त है, जिसके सहारे उनके—आचार्य श्री जयमल्लजी के लोक-मान्य गुणों के सागर को तैर जाने में समर्थ हो सकूंगा।

---

१ उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः,
सिंहोन्नतेयमुदिता मुनिकाश्यपेन।
उद्धर्षिणीति गदिता मुनि सैतवेन,
[illegible]

(३)

आजीवनं य उपकार-रतः समेषाम्,
अस्मि स्म शुद्ध-हृदयो दययोदयागः ।
वीरः क्षमादि-गुण - बाण - जितारि-वर्गः,
साक्षाज्जयो विजयवान् गरुडासनोऽस्मन् ॥

(४)

यस्य प्रभूत - धनिको जनको महात्मा,
मेह्ताऽन्वये ऽजनि शुभोहनलाल-नामा ।
माताऽदिती रविसुता महिमा महीव,
धन्या बभूव महिमा सुतजन्महिम्ना ॥

(५)

धन्व-प्रदेश - भुवि साम्बिय-नाम्नि दिव्ये,
ग्रामे ऽगमत् मुनिवर. शुचि-धर्मतीर्थं ।
सद्दर्शन - व्यसन - मोहनलाल मेह्ता,
तत्पाद-पद्म - दल - लोलुप आजगाम ॥

(६)

वन्दे भवच्चरण--कञ्ज--युग पुनीतम्,
मन्मस्तकेन मृदु-वाचमुवाच मेह्ता ।
दृष्ट्वा शुभान्यतुल-शान्तिमयं च वृत्तम्,
लब्ध्वा शुभामनुमतिं निपपाद भूमौ ॥

(३)

जो आजीवन दूसरों के उपकार में निरत रहे, जिनका हृदय पवित्रता से ओत-प्रोत था, दयाद्रीनता के उच्च भाव में जो उदाहरण की भांति उन्नत थे, जो सम-प्रशान्त भाव आदि आध्यात्मिक गुणरूप बाणों द्वारा (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि) अन्तःशत्रुओं के विजेता और पुरुष थे, वे — आचार्य श्री जयमल्ल जी आत्म-साधना में विजयशील होते हुए विष्णुरूप—परमात्मस्वरूप बन गए।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'जय' शब्द जहाँ एक ओर आचार्य श्री जयमल्ल जी के तथा 'विजय' शब्द उनकी आध्यात्मिक साधना के लिए प्रयुक्त है, वहाँ दूसरी ओर पौराणिक मान्यतानुसार इन शब्दों से भगवान् विष्णु के जय और विजय नामक द्वारपाल संकेतित हैं। आचार्य श्री जयमल्ल जी के जय, विजय सहित विष्णु रूपमें परिकल्पित किये जाने से कवि का उनके आध्यात्मिक जय विजयशील जीवन से अभिप्राय है।

(४)

आचार्य श्री जयमल्ल जी के पिता श्री का नाम श्री मोहनदासजी था। उनका जन्म मेहता (ओसवाल) वंश में हुआ था। वे अत्यन्त धन सम्पन्न थे। उनकी माता श्री का नाम महिमा था, जो सूर्य की माता अदिति तथा (रत्नगर्भा) वसुन्धरा के समान पुत्र-रूप रत्न द्वारा वास्तव में महिमामयी थी, धन्य थी।

(५)

एक बार की घटना है—मारवाड़-स्थित लाम्बिया नामक सुन्दर गांव में धर्मतीर्थ नामक शास्त्रवेत्ता मुनि पधारे। श्री मोहनदासजी को सन्तों का सान्निध्य-लाभ लेने की हार्दिक अभिरुचि रहती थी। वे मुनिवर के चरण-कमलों के दर्शन की उत्सुकता लिये वहाँ आये।

(६)

श्री मेहता जी मुनिवर से बोले—मैं आपके चरण-कमलों में मस्तक नवाता हूँ।

यों नमन कर मेहता जी ने मुनिवर से सुख-शान्ति की पृच्छा की तथा उनकी अनुमति पाकर वे भूमि पर बैठ गये।

(७-८)

स श्रेष्ठिवर्य उदिताभमिव प्रकाशम्,
संस्तूय शुद्ध - मनसा मुनिवर्य-भानुम् ।
स्पृष्ट्वा ततश्चरण-पङ्कज-मञ्जरी च,
मञ्जु प्रवक्तुमिदमुद्यतते स्म भूयः ॥
हे चन्द्रशीतल ! विकस्वर-सूर्य-वाक्य !
अज्ञान - घोर - तिमिरापह ! विज्ञवर्य !
संसार - दुःख - परितप्त - मनो मदीयम्,
संशाधि शीतल-वचोभिरभीप्ट - शास्त्रैः ॥

(९)

सम्प्रार्थितो यतिवर स तु धर्मतीर्थः,
संयम्य चित्त - गतिमेतदुवाच वाक्यम् ।
पश्यन् समस्त - जगती-तल - प्राणि-वर्गम्,
सौम्येन मित्र-नयनेन सदा दयस्व ॥

(१०)

पुत्रस्तव प्रभविता जगतो हिताय,
धर्म-प्रचारमनघं ससुखं प्रकर्ता ।
जित्वेन्द्रियाणि मनसा शुचि कर्म कुर्वन्,
शान्तिं प्रदास्यति समस्त-जगन्मनोभ्यः ॥

(११)

इत्थं स सद्वरमभीप्सितमाप्य तस्मात्,
आचार्यवर्य - मुपत प्रकृति - प्रवृत्तात् ।
हर्षान्वितो मुनिवर शिरसा प्रणम्य,
सिद्धार्थ उत्तम-यशा स्व-गृहं जगाम ॥

(१२)

पत्नीं जगाद तदवोचदसौ मुनीनाम्,
श्रेष्ठो गुरुर्गगन - वागिव धर्मतीर्थः ।
श्रुत्वैव सा मनसि भूरि मुमोदमाना,
जग्राह सद्वचनमाप्तवरा सुसाध्वी ॥

(७-८)

उगते हुए सूर्य की लोग जैसे स्तुति करते है, श्री मेहताजी ने सूर्य के समान तेजस्वी मुनिवर की स्तवना की, चरण-कमलों का स्पर्श किया तथा मधुर शब्दों में उनसे कहा—आप में चन्द्रमा की किरणों की-सी शीतलता है, आपके प्रबोध—वाक्यों में सूर्य की सी तेजस्विता है। घोर अज्ञानान्धकार उनसे छँट जाता है। विज्ञवर! मेरा मन सासारिक विषमताओं से सन्तप्त है। शास्त्रानुमोदित शान्तिमय वचनों द्वारा कृपया मुझे आश्वस्त कीजिए।

(९)

यों प्रार्थना किये जाने पर मुनि श्री धर्मतीर्थ ने स्थिरचित्त हो, उन्हें कहा—जगत् के समस्त प्राणियों को मित्रवत् सौम्य दृष्टि से देखते हुए सब के प्रति दया-भाव विकसित करें।

(१०)

मुनिवर बोले—आपके पुत्र होगा, जो आगे चलकर लोक-कल्याण हेतु उत्साह-पूर्वक सात्त्विक भाव से धर्म-प्रचार करेगा। मन की दृढता से इन्द्रिय-विजय कर उत्तमोत्तम कार्य करता हुआ वह सासारिक प्राणियों को मानसिक शान्तिप्रदान करेगा।

(११)

सहज ही मुनिवर के मुख से निकले इन वचनों के रूप में इच्छित वरदान प्राप्त कर वे हर्षित हो उठे। उन्होंने उन्हें मस्तक नवाकर प्रणाम किया।

इस प्रकार उनकी मनकामना सिद्ध हो गई, यह उनका सौभाग्य था। वे अपने घर लौट आये।

(१२)

मुनिश्रेष्ठ, गुरुवर्य धर्मतीर्थ ने आकाश-वाणी की तरह जो कहा था, वह सब उन्होंने अपनी पत्नी को बताया। वह यह सुनकर मन में अत्यन्त प्रसन्न हुई। उस सन्नारी ने वरदान की तरह उसे सहेजा।

(१३)

स्वप्ने गते कतिपयेषु गतेषु मासु,
सासग्यद्भुत - कर प्रभया प्रशस्तम् ;
कुर्वन्तमीपदमरोचित - हास्यमास्यम्,
शत्रुञ्जयन्तममल - ज - शरेण वीरम् ॥

(१४)

एक - क्षणेन नव - जात - शिशुं तमेव,
स्वाङ्के हसन्तममल द्युति - वर्धमानम् ।
दृश्यं विचित्रमनघं जननी प्रहृष्य,
हर्षान्विता महिमवन्महिमा बभूव ॥

(१५-१६)

वाणे रसर्षि - भगियुक्त - समास्त - संख्ये.,
सम्मानिते प्रवर - संवति वैक्रमेऽब्दे ।
मासोत्तमे सुफल - भाद्रपदोत्तरार्धे,
शुक्ले त्रयोदश-तिथौ शुभ - राशिसंस्थे ॥
अर्कादिके ग्रह - गणे समये सुसार्ते,
वायौ सुखं वहति निर्मल-खे दिशासु ।
जात - प्रसन्न - विमलासु महोज्ज्वलासु,
प्राच्या दिशेव सवितेव शिशुर्विजज्ञे ॥

(१७)

सर्वेऽभिनन्दनमनीहितमुच्चहस्ता.
आयुश्चिरायुरभिजात - शिशोर्निकाम्ये ;
ऊचुः सुमङ्गलमयीर्मधुरा सुवाच,
प्रापुश्च हर्षमतुलं मलिनं विजह्रुः ॥

(१८)

तेभ्यो गुडं दधियुतं मधु मानवेभ्यः,
प्रादाच्छिष्टगोऽर्जनति नृप - समागतेभ्य ।
पूज्य पिता सर्वाभिनन्दित आर्य - सद्भिः,
धन्य यच सुवदनि स्म जनाश्च सर्वान् ॥

(१३)

कुछ महीने व्यतीत हुए। एक रात को उसने सपने में देखा—एक वीर पुरुष हाथ ऊँचा किये खड़ा है। सहज दिव्यता की आभा से वह विभासित है। देव की तरह उसके मुँह से मन्द-मन्द हँसी फूट रही है। मानो वह निर्मल ज्ञान रूप बाण से अन्त कालुष्य जैसे शत्रु को पराभूत कर आध्यात्मिक जय का इंगित कर रहा हो।

(१४)

क्षण भर में स्थिति बदल गई। माँ ने एक विचित्र, पवित्र दृश्य देखा—वह वीर पुरुष एक नवजात, कान्तिमान् शिशु के रूप में उसकी गोद में हँस रहा है। वह महिमामयी-सौभाग्यशालिनी माँ यह देख हर्ष से खिल उठी।

(१५-१६)

जन-सम्मानित विक्रमाब्द १७६५ भाद्र शुक्ल त्रयोदशी का उत्तम दिन था। सूर्य आदि ग्रह अपनी-अपनी शुभ राशियों पर स्थित थे।आकाश स्वच्छ था। धीमी-धीमी हवा चल रही थी। दिशाएँ निर्मल, उज्ज्वल एवं सुहावनी लग रही थी। पूर्व दिशा जैसे सूर्य को प्रकट करती है, उसी प्रकार इस सुन्दर वेला में माँ महिमा ने शिशु को जन्म दिया।

(१७)

सभी ग्रामवासी नवजात शिशु का अभिनन्दन करने (पारिवारिकजनों को वर्धापित करने) उनके घर आये। उन्होंने हाथ ऊँचे उठाकर मंगलमय, मधुरवाणी द्वारा शिशु के दीर्घायुष्य की कामना की। अत्यन्त हर्षित हुए।

(१८)

आये हुए प्रतिष्ठित लोगों ने नव शिशु के पूज्य पिता को वर्धापित किया—बधाई दी। पिता ने उनका सम्मान करते हुए उन्हें गुड़,दही, मधु–मधुपर्क भेंट किया, सभी को धन्यवाद दिया।

(२५)

व्यापारिका अपि तमेत्य महादरेण,
किं कार्यमत्र किमकार्यमिति प्रमाणम् ।
पप्रच्छुरार्द्र-मतय: सुमत - प्रतिष्ठाम्,
लब्ध्वा ततः सहमतिं स्वभिनन्द्य जग्मुः ॥

(२६)

यः कोऽपि यत् किमपि वस्तु ततः समिच्छुः,
प्रागात् स तत् समभिलभ्य सुखं निवृत्तः ।
नादेयमस्य सविधे किमपि स्विदासीत्,
प्राणा अपि प्रणिहिता पर-कार्य - सिद्धौ ॥

(२७)

सर्वे जनास्तमधिगम्य परं पवित्रम्,
सन्मित्रमुज्झित - दुराग्रह - दुष्प्रवृत्तिम् ।
स्नेहार्द्र - मानस - सुधा शुभ - दर्शनार्थम्,
तस्यागमन् कलि-युगेऽपि कृतं कृतं यत् ॥

(२८)

यस्यारयोऽपि गुण-वर्णनमेव चक्रुः,
य शत्रु-मित्र - धियमुच्च-परित्रशील. ।
तत्याज सूकर - मलं त्विव तुल्य-बुद्धिः
आस्ये च यस्य विलसत्यमलं सुहास्यम् ॥

(२९)

काव्य विनोदमधिकृत्य मुदा बबन्ध,
तेनाऽप्यरञ्जयदसौ निज - मित्र - वर्गम् ।
बुद्धः स निश्चल-धिया जटिलामपि स्वाम्,
स्वल्प-क्षणैः सरलतामनयत् समस्याम् ॥

(३०)

सम्मुत्थतम — सुमनिर्विषमेऽपि कष्टे,
प्राप्ते स धैर्यमवलम्ब्य ततो निवृत्तः ।
नाम्ना जय सुभटराजयमाप्य सत्स,
सर्वत्र कार्य-कुशल. सफलो बभूव ॥

(२५)

व्यापारी भी आदर के साथ श्री जयमल्ल के पास आते। विभिन्न प्रसंगों वे करने योग्य तथा न करने योग्य कामों के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करते, उन नीति युक्त व उपयोगी सलाह प्राप्त करते एवं उनका अभिनन्दन कर—उनके प्रति आभार प्रदर्शित कर लौट जाते।

(२६)

जो कोई किसी वस्तु की मांग लेकर उनके पास आता, उसे प्राप्त क प्रसन्नता से लौटता। वास्तव में श्री जयमल्ल के पास कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जिसे वे मांगने वाले को न दे सकें। दूसरे का कार्य साधने में वे प्राण देने को भी तत्प रहते थे।

(२७)

सभी लोग उनकी पवित्रता, उत्तम मैत्री भावना तथा दुराग्रह-हीनता प्रभावित होकर अपने हृदय में स्नेहामृत सजोये उनके सम्पर्क में आते। अपने सात्वि व्यवहार से मानो उन्होंने कलियुग में भी सतयुग की अवतारणा कर दी थी।

(२८)

उनसे शत्रु-भाव रखने वाले भी उनके गुणों की विशेषता की चर्चा कर थे। उनका समतामय चरित्र इतना ऊँचा था कि उन्होंने शत्रु-मित्र भाव को सूअर विष्टा की तरह जघन्य मानकर त्याग दिया था। उनके मुख से निर्मल, सुहावन मुस्कान छिटकती थी।

(२९)

वे प्रसन्न भाव से विनोद पूर्ण कविताएँ रचकर अपने मित्र-वृन्द को आनन्दि करते थे। वे प्रबुद्ध थे, स्थिरबुद्धि थे। अत जटिल समस्याओं को भी कुछ ही क्षण में सुलझा देते थे।

(३०)

वे प्रत्युत्पन्नमति—तत्क्षण किसी भी विषय में बौद्धिक समाधान देने में सक्ष थे। भयानक कष्ट आने पर भी वे धीरज बनाये रखते थे और उसे (कष्ट को) निरस कर देते थे। जैसा कि उनका नाम 'जय' था, वे एक योद्धा की तरह जीवन-संग्रा

(३१)

अन्वर्थ-नाम जयमल्ल इति प्रसिद्धम्,
मल्लो यतः स्फुरति तत्र जयं करोति ।
पार्थोऽर्जुनो जयति तद्वदसौ जयाख्यः,
मल्लः शतेषु विजयी जयमल्ल आसीत् ॥

(३२)

सर्वे वदन्ति 'जय भारत' नादमत्र,
देशेऽत्र एव रचना प्रवरा चकार ।
द्वैपायनो मुनिवरो जय भारतेति,
मल्लोऽर्जुनो जयमुपैति कथानकेऽस्मिन् ॥

(३३)

एषैव संस्कृतिरभूत् पुनरस्ति चाग्रे,
देशे भविष्यति सदैव समुन्नतेऽस्मिन् ।
ता रक्षितुं जय इवैव जयो महात्मा,
सर्वत्र साधयति मल्ल इवास्य धर्मम् ॥

(३४)

धर्मात्मना मुनिवरस्य जयस्य शास्त्र,
मल्लोत्तमस्य विदिता जगति प्रसिद्धा ।
आशैशवान्मुनि-गण तत एव बुद्ध्वा,
मूना सताऽभिनवधारमवापि दीक्षा ॥

(३५)

मनस्यसौ गुणिनी - वर - वन्दमाला,
गूढं सुकर्म रसमाग उवाच कुर्वन् ।
मार्गं प्रभुम ऋषि-सम्यक एव गत्वा,
त्यक्त्वा स सुन्दर-मुने शरणं जगाम ॥

(३१)

उनका जयमल्ल नाम वास्तव में सार्थक था। वे मल्ल—पहलवान या शक्तिशाली थे—मनोबल के अनुपम धनी थे। जिधर कूद पड़ते उधर जय वर लेते—जिस कार्य को हाथ में लेते, उसे सफल बना देते।

पार्थ—पृथापुत्र अर्जुन का भी एक नाम 'जय' था। अर्जुन की तरह वे भी सैंकड़ों में विजयी होने वाले मल्ल—सशक्त व्यक्तित्व के धनी थे। अतः वास्तव में वे 'जयमल्ल'—जयशील मल्ल थे।

(३२)

भारतवर्ष की यह परम्परा है, जब लोग परस्पर मिलते हैं तो अभिवादन के रूप में 'जय भारत' बोलते हैं। मानों इसी कारण महर्षि वेद व्यास ने 'जय' तथा 'भारत' आदि नामों से महाभारत सदृश बृहत् इतिहास-ग्रन्थ की रचना की, जिसमें महान् योद्धा जय—अर्जुन के विजय प्राप्त करने का कथानक वर्णित है।

(३३)

इस पवित्र देश की यही जयशील—असत्य पर सत्य की, अन्धकार पर प्रकाश की जय, विजय की अपनी संस्कृति रही है, आज भी है, आगे भी रहेगी। उसी की रक्षा करने हेतु अर्जुन की तरह महापुरुष जय—जयमल्ल ने (आचार्य भूधर रूप कृष्ण से कर्त्तव्य-पथ प्राप्त कर) एक आध्यात्मिक योद्धा के रूप में सर्वत्र धर्म को साधा—उस की रक्षा की।

(३४)

मुनिवर श्री जयमल्लजी की सहज धर्मिष्ठता जगत् में विश्रुत थी। तभी तो बचपन में ही उन्हें मुनि-सेवित संयम-पथ का सद्बोध प्राप्त हुआ और भरी जवानी में उन्होंने तलवार की तेज धार पर चलने के समान अत्यन्त कठिन श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

(३५)

उनका तितिक्षा-भाव कितना ऊँचा था—एक सुन्दर कन्या के साथ उनका पाणिग्रहण-संस्कार—विवाह हो चुका था, छः मास तक वे गृह कार्यों में प्रवृत्त भी रहे किन्तु सातवां महीना लगते ही वे घर का परित्याग कर आचार्य श्री भूधरजी के सान्निध्य में आ गये।

(३६)

गीता—विराग-शिक्षणं इति प्रसिद्धः,
लक्ष्मी-पिता जन-गुणान्वितसानुरागान् ।
आकर्ण्य सुन्दरगुणां स निजस्य कन्यां,
लक्ष्मी प्रदातुमगमज्जय-गेहमध्ये ॥

(३७-३८)

लक्ष्मी सुवर्ण-मणि-रत्नमयी बभार,
विश्वे समुन्नमभगं यथग. सुवर्णे ।
लक्ष्मी. सुवर्ण-सुदती सुमुखी शुभाङ्गी,
चन्द्रानना कमल-चारु-विशालनेत्री ॥
स्निग्धस्तनी कृशकटी सुनितम्ब—जंघा,
सर्वाङ्ग - सुन्दरतमानुपमेय - शोभा ।
विष्णु यथा तमवृणोज्जनकानुमत्या,
द्वाविंश एव वयसो जयिन युवानम् ॥

(३९)

पाणिं प्रगृह्य ललित ललना-ललाम्नः,
गेहं निनीय सकृदेव विनीत-भार्याम् ।
आनेतुमागतवते जनकाय पत्न्याः,
मूर्धं तु तद्दुहितरं प्रददौ सहर्षम् ॥

(४०)

सम्प्रेष्य साम्प्रतमिमां श्वशुरेण जायाम्,
व्यापार—कर्मणि पितुर्महति प्रवृत्तः ।
सम्मेडतापुरमयाद् व्यवसाय-बुद्ध्या,
यत्राऽर्जनि त्रिभुवनेश-सुभक्त—मीरा ॥

(४१)

याऽऽराध्य गोप-कुल-भूषण-कृष्णचन्द्रम्,
सिद्धा बभूव गरलं शिववत् प्रपीय ।
पीतं विषं तदमृतं भवदात्म-शान्तिम्,
दातुं समर्थमभवद् भगवत्प्रभावात् ॥

(३६)

विवाह एवं वैराग्योन्मुख गृही जीवन का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

रीयां गाँव में श्री शिवराज मुथा नामक एक प्रतिष्ठित महाजन निवास करते थे। उनके लक्ष्मी नामक कन्या थी। उन्होंने श्री जयमल्ल के प्रताप एवं उत्तम गुणों के सम्बन्ध में सुना। वे अपनी सुन्दर कन्या उन्हें ब्याहने का प्रस्ताव लेकर उनके घर आये।

(३७-३८)

जिनका सौभाग्यपूर्ण प्रताप था—श्री जयमल्ल को, जब वे बीस वर्ष के थे, सुवर्ण, मणि एवं रत्न आदि के रूप में लक्ष्मी वैभव प्राप्त हुआ अर्थात् उन्होंने प्रचुर धन अर्जित किया। जब वे बाईस वर्ष के हुए, तब सुकन्या लक्ष्मी ने, जिसके दांत चमकीले थे, मुख चन्द्र के समान सुन्दर था, नेत्र कमल की तरह सुहावने एवं विशाल थे, स्तन बिल्व फल की तरह परिपुष्ट थे, कमर पतली थी, विनय व स्वभाव सुघटित था, जिसके अंग-अंग से मानो सौन्दर्य टपकता था, जिसका व्यक्तित्व अनुपम शोभा लिये हुए था, जैसे भगवती लक्ष्मी ने भगवान विष्णु को वरा, अपने पिता की आज्ञा से उसी प्रकार उनका वरण किया।

(३९)

श्री जयमल्ल ने उस सुन्दर कन्या का पाणि-ग्रहण किया। अपनी विनयशील पत्नी को घर लाये, पर यह प्रसंग इसी बार—केवल एक ही बार बना।

कुछ समय बाद जब उनके श्वसुर (शिवराज जी) अपनी पुत्री को लेने आये तो प्रसन्नतापूर्वक उसे उनके साथ भेज दिया।

(४०)

अपने श्वसुर के साथ पत्नी को पीहर भेजकर श्री जयमल्ल अपने पिता के विस्तृत व्यापार-कार्य में लग गये।

व्यापार की दृष्टि से वे एक बार मेड़ता आये। यह मेड़ता, जहाँ तीनों लोकों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण की भक्त मीराबाई ने जन्म लिया था।

(४१)

मीराबाई ने गोप-कुल को शोभित करने वाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की आराधना द्वारा सहज रूप से सिद्धि प्राप्त कर ली थी। अतएव वह अपने लौकिक पति मेवाड़ के महाराणा द्वारा भेजा गया विष भगवान् शिव की तरह प्रसन्नता से पी गई। मीराबाई को उससे अमृतपान की ज्यों आत्म-शान्ति ही प्राप्त हुई। यह भगवान् का ही प्रभाव था।

(४२)

आगत्य तां पुरमसौ जयमल्लदेवः
नापश्यदेकमपि हट्टमनावृतं स. ।
आश्चर्यवत्परित - आनुभवन्नपृच्छत्,
कञ्चिज्जन पिहित-कारणमाद्यमस्य ॥

(४३)

स प्राह भूधर - मुनि· प्रवदिष्यतीति,
हेतो. समस्त - नगरी तमुपाजगाम ।
प्रावृण्निवासमकरोन्नर - देव - वन्द्य,
अस्या पुरि प्रवर - मास - चतुष्टयं स: ॥

(४४)

अथाऽस्ति कार्तिक-समाप्तिरत. समेऽपि,
व्याख्यानमस्य हृदयङ्गममत्र कर्तुम् ।
धावन्ति नागर-जना अमुमर्च्यमानम्,
हात्वा तदयनन-कार्यमिति प्ररोध: ॥

(४५)

श्रुत्वा वचोऽस्य वदत स मनश्चकार,
कर्तुं सुदर्शनममुष्य मुनेरनिन्द्यम् ।
जन्मान्तरेषु कृत-पुण्य-चय-प्रभावात्,
आकृष्ट एव सहसा सद आजगाम ॥

(४६)

वत्सो यथा गुण-निबद्ध-गल: प्रकृष्टम्,
आकृष्यते शिशुभिरिष्ट-पथि प्रकामम् ।
एव स गद्य उदितेन सुकर्मणाऽणु,
प्रानीयत मुनिप - भूधर - पाद - पद्मम् ।

(४२)

श्री जयमल्ल ने उस दिन मेडता मे देखा—बाजार मे एक भी दुकान खुली नही थी। उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। उन्होने किसी नागरिक से इस बन्दी का कारण पूछा।

(४३)

नागरिक ने कहा—आचार्य श्री भूधरजी का आज विशेष प्रवचन है। सभी नागरिक प्रवचन सुनने गये हैं।

लोकपूज्य, देववन्द्य आचार्य वर ने इस नगर मे चार महीने वर्षावास किया था।

(४४)

आज कार्तिक मास की समाप्ति के साथ आचार्यवर का चातुर्मास सम्पन्न हो रहा है। लोग पूज्य प्रवर के उपदेश हृदयंगम करने हेतु आज कार्य बन्द कर दौडे जा रहे हैं, अतएव दुकानें बन्द हैं।

(४५)

यो कहते हुए नागरिक का वचन सुनकर श्री जयमल्ल के मन मे आचार्य वर के पावन दर्शन का भाव जागा। पूर्व जन्माचरित पुण्यो के प्रभाव से वे सहसा मानो सभा मे खिंचे चले आये।

(४६)

गले मे रस्सी बन्धे बछडे को जैसे बालक मन चाहे रास्ते की ओर खींच ले जाते हैं, उसीप्रकार तत्काल उदित शुभ कर्म द्वारा श्रीजयमल्ल आचार्य श्री भूधरजी के चरण-कमलो मे तुरन्त खिंचे चले आये।

(४३-४८)

आनन्द तत्र दर्शितोरम सभा-प्रभावम्,
दृष्टो जन न परिपश्यति भागधेयम् ।
उन्चामनोऽपि गिरिजितमातरन्तम्,
धाराधरेन्द्रमिव देव-नदी वहन्तम् ॥
श्रोत्रेण सम्मुख-निबद्ध-सुदीर्घ-नेत्रान्,
स्पन्दोज्झितानिव शिरांसि निलीयमानान् ।
मध्ये जनो जन इति परिताप-शब्दम्,
साधु-प्रहृष्ट हृदय वदन प्रधानान् ॥

(४९)

केचिज्जना धवल-वस्त्रधराऽऽवृताङ्गा,
स्व-स्वासनेषु कमलासन-बद्ध-धीरा ।
आयत्त-चित्त-गत सञ्चल-वृत्ति भेदा,
शृण्वन्ति आर्य-चरितं समुद प्रहृष्टा ॥

(५०)

अन्येऽपि तत्र सुजना बहव प्रमुग्धा,
नाना-मतेषु निज-चित्त-निबद्ध-निष्ठा ।
शैवा गणेश-रवि-शक्ति-परायणाश्च,
विष्णो रता यवन-पौरव एत आसन् ॥

(५१)

तत्रैत्यासौ सुकृत-सदसि प्रेक्ष्य धर्म-स्वरूपम्,
श्रुत्वा सम्यक् मुनिवर-मुखाद् ब्रह्मचर्य-प्रभावम् ।
सत्यश्चक्रे मनसि दृढतामिन्द्रियाणां जयस्य,
पुण्य-श्लोका सद्दृगसारं प्राप्तमुज्झन्ति नैव ॥

(४७-४८)

श्री जयमल्ल परिषद् की प्रभावना का अवलोकन कर हर्ष-विभोर हो गये। उन्होंने देखा—आचार्य श्री भूधरजी सिंहासनारूढ पर विराजित हैं। हिमालय से निकलती गंगा की तरह उनके मुख से वाग्-सुरसरी प्रवाहित हो रही है। श्रोतृ-गण उनके मुख की ओर टकटकी लगाये बैठे हैं। पूंगी के संगीत पर झूमते काले नागों की तरह वे आनन्द में अपने मस्तक झुला रहे हैं, अश्रुपूरित नत एवं भाव-विह्वल हो बीच-बीच में प्रवचन के हर वाक्य के बाद 'जय-जय' शब्द का उच्चारण कर अपना हर्ष प्रकट कर रहे हैं।

(४९)

परिषद् में अवस्थित कुछ साधु भूमि पर सुख-शय्या बांध आसन आसन आसनों पर पद्मासन की मुद्रा में बैठे थे। चित्त की चतुरिमा और पवित्र वृत्तियों को रोके वे आनन्द से उसमें कथामृत सुन रहे थे।

(५०)

सेठ-शिवसागर, मणिधर उदासर, गुरु उदासर [illegible] तथा मुसलमान व ईसाई आदि विभिन्न सम्प्रदायों से आस्थावान और भी अनेक [illegible] मनुष्य वहाँ बैठे थे प्रवचन सुन रहे थे।

(५१)

श्री जयमल्ल ने वहाँ धर्म-कथा में आचार्य [illegible] सदा आचार्यवर के मुख से [illegible] का प्रभाव सुधासार-सरसी सम [illegible] सम्बन्धी भावों को जीवन का लक्ष्य दिया। वस्तुतः [illegible] प्राण पुलकित को बुला नहीं सका।

इस प्रकार से [illegible] होता है। [illegible] शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श में [illegible] होते हैं। [illegible] हर्ष का [illegible] —विशद होता है।)

द्वितीय स्तबक

(१)

मेड़तापुरि गणीशभूधर,
पूर्णिमासुदिवसे च कार्तिके।
भाषणे प्रमदमोह - नाशने,
ब्रह्मचर्य - गरिमाणमादिशत्॥

(२)

भाग्ययोगवशतः सुधी जयः,
स्वागतः प्रवचने मुदा तदा।
सश्रुत प्रविमल सुदर्शन-
वृत्तमार्यचरित च तेन वै॥

(३)

भूधरस्य वचन - प्रभावतः
श्रेष्ठि-सत्यचरितस्य वर्णनात्।
आवभूव जयमल्ल - मानसं,
ब्रह्मचर्य - बल - धारणे दृढम्॥

(४)

शील - सद्व्रतसुदर्शनस्य स,
सुद्वितीय इव भूधरापितः।
तत्समीपमभिगम्य चाब्रवीत्,
भो गुरोऽहमपि तद् व्रतं भजे।

द्वितीय स्तबक

(१)

आचार्य श्री भूधर जी महाराज मेड़ता में विराजित थे। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का दिन था—चातुर्मास्य का समापन था। वे प्रवचन कर रहे थे। मद एवं मोह का नाश कर देने वाली ओजस्वी वाणी प्रस्फुटित हो रही थी। आचार्यवर ने अपने प्रवचन में ब्रह्मचर्य की गरिमा का बखान किया।

(इस स्तबक में यहाँ से ४८ वें श्लोक तक रथोद्धता छन्द है। रथोद्धता में रगण, नगण, रगण तथा अन्त में एक लघु व एक गुरु होता है।)[1]

(२)

ऐसा शुभ संयोग बना, सद्बुद्धिशील जयमल्ल वहाँ आये, प्रसन्नतापूर्वक परिषद् में बैठ गये। उन्होंने सुदर्शन सेठ का निर्मल, उत्तम—ब्रह्मचर्य साधना का जो उत्कृष्ट आदर्श लिये था, वृत्तान्त सुना।

(३)

आचार्य श्री भूधर जी महाराज की ओजस्वी वाणी तथा श्री सुदर्शन सेठ के पवित्र चरित्र का श्री जयमल्ल के मन पर सहसा कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने मन ही मन ब्रह्मचर्यमय संयम स्वीकार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

(४)

आचार्य श्री भूधर जी महाराज द्वारा व्याख्यात सुदर्शन के शील, उत्तम व्रत की महिमा से श्री जयमल्ल इतने आत्म-विभोर एवं तन्मय हो उठे मानो वे स्वयं सुदर्शन ही बन गये हों। वे आचार्यप्रवर के समीप आये और बोले—गुरुवर! मैं भी संयममय जीवन स्वीकार करना चाहता हूँ।

---

१. रान्नराविह रथोद्धता लगौ। —वृत्तरत्नाकर ३.३६.

(६)

यदा यदा भगवान् सुदर्शन,
यदा यदा मनोज्ञ जीवन।
तदा तदा परमानुभूति हे,
यदा यदा मम मानसं दृढम् ॥
जाने सुन्दर प्रमोदाम्,
ममापि सहजोऽपि जीवनम्।
तावन्ति सर्वं निरन्तरम्,
यावन्ति मम जीवन-क्षणम् ॥

(७)

खड्गधारमिव तद्वा युवन् !
यौवनं तव नवीनमपि च।
स्वरूपमनमयथेहि यातक !
सं युवानमयदद् सुदर्शनः ॥

(८)

किन्तु सोऽपि जयमान आग्रहे,
दाढ्यमेव जगृहे मुहुर्मुहुः।
यून एव गत ईदृशाग्रहम्,
श्रावका अपि विलोक्य विस्मिताः ॥

(९)

अथ एव
मल्लपूर्वमपर तमबोधयज्जयम्,
सोऽपि वज्रसम सुदर्शनम्।
शैलराज इव एव भीष्मवत्,
सुस्थिरोऽभवत् ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

(१०-११)

शोभते तव पयोधि - सन्निभो,
रत्न - हंस मणि - मीन संकुले ।
तत्र नेऽस्मि कमलं सुगन्धि,
सुन्दरी तव - कपोलरोमशो ॥
शांतमानसमये तव वपुः,
सुन्दरं तव मधुरं निर्मलम् ।
इन्द्रियाणि विनयोन्नमद्महे,
संयमस्य समयोऽयमस्ति किम् ॥

(१२)

सन्निशम्य गुरु - वाक्यमर्थवित्,
आत्मभाव इदमेव केवलम् ।
अध्रुवं परिविहाय सद् ध्रुवम्,
सेवितुं मनसि निश्चयोऽभवत् ॥

(१३)

ध्रुवः प्रगल्भ मम मौवन गुरो !
दीप-तैलमिव वर्तिकाशयम् !
ज्योतिराविशति तद्विनिश्चितम्,
द्रव्यमेवमपि नास्ति शाश्वतम् ॥

(१४)

अध्रुवेण यदि सद्ध्रुवं लभे,
निर्मलं कुमल - वाहिना तथा ।
तद् भवान् वदतु किं गतं मम,
लब्ध एक - पणकेन सन्मणि ॥

(१५)

रवत्पिता च जननी ममस्विनी,
स्नेह - सिक्त - हृदया नवोढिका ।
जालमेतदखिलं दृढं तव,
छिन्नेऽस्य सफलः कथं भवेः ॥

(१०-११)

गुरुवर ने कहा—जयमल्ल ! क्या नहीं समझते, तुम्हारा यौवन रूपी समुद्र रत्न, स्वर्ण, एवं मणि रूप मछलियों से आपूर्ण है। उस यौवन-सागर में तुम्हें अभिनव लक्ष्मी की तरह नवयौवना पत्नी प्राप्त है, जो सुन्दरता में उर्वशी के सदृश है—कहने का तात्पर्य यह है, तुम युवा हो, प्रचुर सम्पत्तिशाली हो, परम रूपवती पत्नी तुम्हें प्राप्त है। यह उत्तरोत्तर विकास पाता नव यौवन, निर्दोष तथा सुन्दर शरीर, विषयोन्मुख इन्द्रियां—जरा सोचो, क्या यह संयम स्वीकारने का समय है ?

(१२)

तत्त्ववेत्ता—जीवन की सचाई को समझने वाले श्री जयमल्ल ने गुरुवर का कथन सुना और केवल इतना सा कहा—प्रभो ! अशाश्वत—क्षण भंगुर भोग का परित्याग कर मैं अपने मनमें शाश्वत आत्मसुख प्राप्त करने का निश्चय कर चुका हूँ।

(१३)

गुरुवर ! जैसे दीपक में भरा तैल बाती द्वारा लौ में मिटता जाता है, वैसे ही यह यौवन कल ही तो—शीघ्र ही तो अपना अस्तित्व खो देने वाला है। धन-वैभव भी उसी तरह अशाश्वत है।

(१४)

इस देह द्वारा, जो शाश्वत नहीं है, यदि मैं शाश्वत सत्य प्राप्त कर लूं, यह देह जो मलवाही है—जिसमें मल, मूत्र, रक्त, मांस आदि अशुचि पदार्थ भरे हैं, के द्वारा यदि मैं निर्मल—मल रहित—दोष रहित शुद्ध आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लूं तो कृपया आप ही बतलाइये, मेरा क्या गया, मैंने तो मात्र एक पैसे में बहुमूल्य रत्न जो पा लिया।

(१५)

गुरुदेव बोले—जयमल्ल ! तुम्हारे पिता है, ममतामयी मां है, नव परिणीता स्नेहशीला पत्नी है। ममतामय मधुर सम्बन्धों का यह सुदृढ़ जाल तुम कैसे तोड़ पाओगे ?

(१६)

विश्व - सागरमपारविस्तृतं,
घोर - मोह - मकरादिसङ्कुलम्
लोभ - मेदुरजलं दुरागम,
सन्तरिष्यमि कथ सदानघ !!

(१७)

सोऽवदद् गुरु - सुपाद - पङ्कजम्,
दीर्घ - नावमवरुह्य सत्वरम् ।
सन्तरिष्य इति मे सुनिश्चय,
सद्गुरोर्यदि भवेत् कृपा मयि ॥

(१८)

त तथा दृढ - मति विलोकयन्,
सद्गुरु स जयमल्लमद्भुतम् ।
हर्षमद्वयमवाप्य मानसे,
स्वीचकार खलु तन्निवेदनम् ॥

(१९)

यस्य नाम जयमल्ल इत्यसौ,
निश्चयेन जयमेव लप्स्यते ।
इत्यवेत्य गुरुवर्य ओजसा,
बाढमित्यवददात्मवित्तम. ॥

(२०)

केवलं न जयमल्ल एव तम् ।
सयमस्य सुपथं समग्रहीत् ।
किन्तु तस्य युवतिवधूरपि,
शब्दमर्थं इव त समन्वगत् ।

(२१)

दम्पतीत्थमुभयावनिश्रियौ,
गृह- मार्गमपहाय मुक्तिदम् ।
शुद्ध - सत्य - मुनि - मार्गमुत्कटम्,
येनतु सुमनसौ सुखान्वितौ ॥

(१६)

यह संसार—सागर इतना विस्तृत है कि इसका कोई आर-पार नहीं है। हरूपी मगरमच्छों से यह भरा है। लोभ से परिव्याप्त होने के कारण इसका र भारी विस्तार लिये है। पाप-भीरो! बतलाओ, इसे कैसे पार कर सकोगे?

(१७)

श्री जयमल्ल ने कहा—गुरुवर! यदि आपकी कृपा हो तो मैं आपके चरण-कमलों की विशाल नौका में बैठकर इस संसार सागर को शीघ्र ही पार कर जाऊँगा। रा यह दृढ़ निश्चय है।

(१८)

जब गुरुवर ने देखा—जयमल्ल के विचारों में अद्भुत दृढ़ता है तो वे मन ही न अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनकी प्रार्थना स्वीकार की।

(१९)

परमतत्त्ववेत्ता गुरुवर ने अन्तर्ज्ञान द्वारा अनुभव किया, जिसका नाम जयमल्ल है, निश्चय ही वह जय—सफलता प्राप्त करेगा। अतः वे उन्हें व्रत दिलाने को सहमत हो गये।

(२०)

केवल जयमल्ल ने ही संयम का सुन्दर पथ स्वीकार नहीं किया। उनकी नव-यौवना पत्नी ने भी, जैसे शब्द के पीछे अर्थ-परम्परा चलती है, उसीप्रकार उनका अनुसरण किया अर्थात् उनकी पत्नी ने भी संयममय जीवन स्वीकार कर लिया।

(२१)

इस प्रकार अत्यन्त प्रियताशील पति-पत्नी के गृहस्थ जीवन का परित्याग कर मुक्तिप्रद, शुद्ध, सत्योन्मुख पर कठोर मुनि-जीवन अत्यन्त प्रसन्नता के साथ अपना लिया।

(२२)

मेडतापुरि जयः म्विकां तनूम्,
भूधराय गुरवे समार्पयत् ।
मार्गशीर्ष शुभ-मासि दीक्षित.,
भूधरेण गुरुणाऽपि मल्लजित् ॥

(२३-२४)

कृष्णपक्ष इव पञ्च-कार्तिके,
कृष्णपाक्षिक-शुभे द्वितीयके ।
सद्दिने रवि-हयाष्टकोत्तरे,
सप्त- चन्द्र - सहिते सुवत्सरे ।
दीक्षयाऽऽप्त - शिव - सत्य - सुन्दरः,
तत्क्षणात् प्रमुमुदे स दीप्तिमान् ।
श्री - जयेन जयमल्ल - मूर्तिमान्,
नेमिनाथ इव सोऽचकासत: ॥

(२५-२६)

जम्बु पूर्वक - कुमार - दीक्षणम्,
तत्प्रभाव - जनितं शताधिकैः ।
एक - काल - समवस्थितोद्भवम्,
मानवै॰ श्रमण - पद्धति - ग्रहम् ॥
तस्य दीक्षित-जयस्य योगिनी,
राजुल - द्वितय - नेमिनाथिकीम् ।
स्मारयत्युपग - मानवान् स्वया,
दीक्षया च घटना पुरातनीम् ॥

(२७)

पूज्यपाद - जयमल्ल - सत्कथा,
वीत - राग - मदना - समुद्भवा ।
अद्भुत करुण-भावमूर्जितम्,
बोधयत्यतिल - पाठकाञ्जनान् ॥

(२२)

मेड़ता नगर में श्री जयमल्ल ने अपना जीवन गुरुवर श्री भूधर जी की सेवा में अर्पित कर दिया। आचार्यप्रवर श्री भूधरजी ने उत्तम मार्गशीर्ष मास में उन्हें भागवती दीक्षा प्रदान की।

(२३-२४)

यों कार्तिक के पश्चात् आने वाले कृष्णमास—मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तिथि विक्रम सम्वत् १७८७ में श्री जयमल्लजी ने श्रमण-दीक्षा के रूप में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को सानन्द स्वीकार किया। सांसारिक वैभवमयी माया पर विजय प्राप्त कर वे साक्षात् भगवान् अरिष्टनेमि की तरह देदीप्यमान हो गये।

(२५-२६)

श्री जम्बू कुमार की दीक्षा से प्रभावित होकर सौ से अधिक व्यक्तियों ने एक ही श्रमण-दीक्षा स्वीकार की थी। श्री नेमिनाथ के पथ का अनुसरण करते हुए राजकुमारी राजीमती ने भी संयममय जीवन अपना लिया था। श्री जयमल्ल जी की धर्मपत्नी लक्ष्मी ने अपने पति के पीछे दीक्षा ग्रहण कर ये पुरानी घटनाएँ निकटवर्ती लोगों को साक्षात् स्मरण करा दीं।

(२७)

पूज्यपाद श्री जयमल्लजी का यह वृत्तान्त, जिसमें राग और ममता की विजय का संकेत है, पाठकों के मनमें 'अद्भुत तथा करुण' दोनों रसों का उद्बोध कराता है। अद्भुत इसलिए—भरे-पूरे यौवन, धन-वैभव-मय गृहस्थ जीवन, रूपवती स्नेहशीला पत्नी—इन सबका त्याग कर संयम स्वीकार करना जन-साधारण के लिए एक आश्चर्य ही तो है। करुण इसलिए—लौकिक ममताशील लोगों में इससे सहसा कारुणिक भावों का उद्रेक हो उठता है।

[illegible]

([illegible])

[illegible]

(३०)

[illegible]

(३१)

[illegible] गण,
[illegible] श्रमण् ।
[illegible] प्रवर्तिता,
[illegible] ॥

(३२)

उग्र - घोर - तपसो समाश्रिता:,
ते च सुश्रमण - धर्म - मत्सरा: ।
ज्येष्ठ - मास - शुक्ल - राशि-सम्मित-
ग्रीष्म - भानुरिव सञ्चकाशति ॥

(३३)

जैन - शास्त्र - पठन - स्वभावका:,
श्रावका: श्रमण - सङ्घ - पूजका:,
संस्मरन्ति जयमल्ल - वर्णने,
प्रावनं श्रमण - वृत्त - वर्णनम् ॥

(२८)

कठिनतापूर्वक आचरित अध्यात्म-साधना, आगम एवं शास्त्रों के अध्ययन में संलग्नता तथा दैनन्दिन साधुचर्या में अनालस्य व तत्परता—इन तीनों ने श्री जयमल्ल जी का स्थान बहुत ऊँचा बना दिया अर्थात् आत्म-साधना, श्रुतोपासना तथा साधु-चर्या में श्री जयमल्ल जी अत्यन्त जागरूक थे।

(२९)

संयम-पथ पर गतिशील रहना, नियमपूर्वक व्रतों का परिपालन करना, अपने निश्चय पर अडिग रहना—श्री जयमल्ल जी की अपनी विशेषताएँ थीं। सबके मन में उनका बहुत ऊँचा स्थान था।

(३०)

जैन आगमों में अनेक प्रकार के तपों का वर्णन है। उनमें एक तप का नाम उग्र है, जो बहुत कठिन है। दूसरा अचम है, जिसे घोर भी कहा जाता है।

(३१)

एक दीप्त नाम का तप है। यों ये तीन तप हैं। कई साधक उग्र तप में प्रवृत्त रहते हैं और कई घोर तपों की साधना करते हैं।

(३२)

श्रमण-धर्म में तत्पर कई साधक उग्र तथा घोर दोनों तपों की आराधना करते हैं। वे जेठ मास के वृष राशि में स्थित सूर्य के समान देदीप्यमान होते हैं।

(३३)

जैन शास्त्रों के अध्ययन में रुचिशील, श्रमण-संघ के उपासक श्रावकों को श्री जयमल्ल जी का वृत्तान्त प्राचीन श्रमण जीवन का साक्षात् स्मरण करा देता है।

(३४)

श्री-जय कठिन - शास्त्र-सागरः—
सूत्र-नीर - विविधं समागरन् ।
उग्र - तापन इवोत्समानिषा,
दीप्तिमांश्च शुशुभे महौजसा ॥

(३५-३६)

श्रीजयस्य कठिना सुराधनाम्,
सम्प्रपठ्य सहसैव मानसे ।
आगमेषु विविधै सुदीपितैः,
शब्द - वाक्य - गत - वर्ण - मालिकैः ॥

ह्रस्व - दीर्घयुत - कादिभी रवैः,
अक्षरैरुभयकैर्विनिर्मिताम् ।
कान्त - कोमलतमा पदावलीम्,
संस्मरन्ति सपदीह मानवाः ॥

(३७)

कल्पनाऽपि जयमल्ल - मानसे,
वज्रवद् दृढतमा स्ववर्तत ।
तद्विचार - सरणिश्च सर्वदा,
अङ्गदाङ्घ्रिरिव निश्चलाऽभवत् ॥

(३८-३९)

दीक्षयाऽऽप्तमधिशासित बृहत्,
लक्ष्यमुत्तम - समुन्नतिर्ध्रुवा ।
स्वात्मनः शिवमनुत्तम भवेत्,
निग्रहश्च मनसोऽस्तु मे सदा ॥
आत्म - चिन्तनमनन्य - भावत,
आगमस्य निखिलस्य धारणा ।
मानसे तु सतत समास्यताम्,
एष एव जय - निश्चयो ह्यभूत् ॥

(३४)

श्री जयमल्ल जी कठिनाई से साधे जा सकने योग्य उग्र, घोर, उग्र आदि तपों की आराधना करने लगे। वे अपने दिव्य तेज तथा ओज से सूर्य की तरह दीप्तिमान् प्रतीत होते थे।

(३५-३६)

श्री जयमल्ल जी की इस कठिन साधना के सम्बन्ध में पढ़कर सहसा पाठकों के हृदय में आगमों में विस्तार से वर्णित नानाप्रकार के शब्द, वाक्य, ह्रस्व दीर्घ आदि ध्वनिमय अक्षरों से बनी कोमल कान्त पदावली का स्मरण होने लगता है अर्थात् इन तपों के सम्बन्ध में आगमों में जो अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है, वह श्री जयमल्ल जी के तपोमय जीवन में साक्षात् दृश्यमान था।

(३७)

श्री जयमल्ल जी के मन में आत्म-साधनामय सुन्दर परिकल्पना वज्र के समान अत्यन्त दृढ़ थी अर्थात् वे केवल कल्पनाकार ही नहीं थे, उस पर अत्यन्त दृढ़ता-पूर्वक चलना भी जानते थे। उनकी विचार-धारा अगद के पांव की तरह निश्चल— अटल थी अर्थात् वे चंचलचेता नहीं थे।

(३८-३९)

दीक्षा के दिन से ही श्री जयमल्लजी ने बहुत बड़ा लक्ष्य अपने सामने रखा— उत्तमोत्तम गुणों द्वारा समुन्नत होता जाऊँ, आत्म-कल्याण, जो जीवन का सर्वोत्तम प्राप्य है, साधूँ, सदा अपने मन को नियन्त्रित किये रहूँ, सम्यक्तापूर्वक आत्म-चिन्तन में लीन रहूँ, समग्र आगमों को स्वायत्त करूँ, । वे निश्चल भाव से इस पर गतिमान् रहे।

(४०)

अर्जयेयमहमात्म - बोधकम्,
शास्त्रमूर्ध्व - गति - दायकं महत् ।
इत्यसौ जय उदार - सन्मुनिः,
ध्यायति स्म सततं त्वहर्निशम् ॥

(४१)

यत्क्षणे श्रमण - जीवने पदम्,
व्यन्यसत् स च तदुत्तर - क्षणात् ।
एकतोऽन्तर - दिनोपवासतः,
सद्व्रतं नव - मुनिर्दधार ह ॥

(४२)

उग्रमेतदुपवर्णितं तपः,
तत्र साम्प्रमुपवासमाचरन् ।
पारणाम्रमपरेद्युरग्रहीत्,
उत्तमा हि मुनयस्तपस्विनः ॥

(४३)

अन्तरेण दिवसेन भोजन-
त्यागतो हि मनुजस्य केवलम् ।
यद्यपि क्षयमुपैति सन्ततम्,
पाञ्चभौतिकमिदं भवन्तनु ॥

(४४)

तत्तथापि जयमल्ल - सन्मुनेः,
मानसन्न बलमेव केवलम् ।
आत्मनोऽपि बलमुग्रवेगतः,
वर्द्धितु प्रारभते स्म सन्ततम् ॥

(४५)

आत्मना स बलवत्तमोऽभवत्,
कोऽपि ना तमिह नात्रभावयत् ।
केनचित्स्वपि कारणेन सः,
कर्मभीरु उदितः कुमारथन ॥

(४०)

उदारचेता, उत्तम साधक श्री जयमल्ल जी रात-दिन मन में यह चिन्तन लिये रहते थे—आत्म-बोध जनक, उच्च गतिप्रद शास्त्रगत परम ज्ञान का मैं परिशीलन करता रहूँ।

(४१)

जिस क्षण श्रमण—जीवन में कदम रक्खा—भागवती दीक्षा अंगीकार की, तभी से वह नव दीक्षित साधक एकान्तर तपोमय सद्व्रत स्वीकार कर साधना-पथ पर चल पड़ा।

(४२)

एकान्तर तप उग्र तप कहा जाता है। श्री जयमल्ल जी इसकी आराधना में लगे रहे। पहले दिन उपवास तथा अगले दिन पारणा, यों अनवरत उपवास एवं पारणे का क्रम उनके चलता रहा। वस्तुत. मुनि तपस्वी होते ही हैं।

(४३)

एक एक दिन छोड़ कर भोजन के त्याग से मनुष्य का पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) निर्मित नूतन—परिपुष्ट शरीर क्षीण होता ही है।

(४४)

मुनि श्री जयमल्ल जी के साथ भी ऐसा हुआ— दैहिक क्षीणता तो आई पर उनका मनोबल तथा आत्म-बल अत्यन्त वेग से बढ़ता गया।

(४५)

उनका आत्म-बल इतना बढ़ गया कि कोई पुरुष किसी भी तरह उन्हें दुष्प्रभावित—ध्येयच्युत करने में सक्षम नहीं हो सका, मानो कोई ऐसा उत्पन्न ही नहीं हुआ हो।

(४६)

नैक - कर्तृत्व - गर्व - पञ्जकम्,
गद्गदं न [illegible] स्म [illegible] ।
पूर्ण - बोधन - [illegible] पुन,
मन्तारं [illegible] स्म यं ॥

(४७)

सर्व - पूज्य - जय आत्मनि स्थित,
शुष्क नीरस - तनु साधनाम् ।
नैव सोऽनुमत स्निग्ध सद्गाम्,
ध्यानमध्ययन - भक्ति - सयुताम् ॥

(४८)

साधना रसयुतामा सदा,
शान्त - भक्ति - रस - धारधारिणीम् ।
सस्मृति भगवतः स्तुति श्रिताम्,
शर्करान्वित - पयो यथाऽऽश्रयत् ॥

(४९)

कारुण्यामृत-सिक्त - शान्तिममला वैराग्य-भावोज्ज्वलाम्,
ज्ञानोद्दीप्तिमती मतीन्दुधवला प्रेमानुरक्ताऽरुणाम् ।
पीतामात्म - सुबोध - रश्मिभिरनुस्यूता शिवां साधनाम्,
नाना-भाव - रसोद्गम - प्रवणता श्रीजय्यमल्लोऽकरोत् ॥

□

(४६)

मुनीश्वर श्री जयमल्ल जी ने उस एकान्तर तपोमय व्रत का न केवल एक वर्ष या पाँच वर्ष, प्रत्युत पूरे सोलह वर्ष तक निरन्तर पालन किया।

(४७)

आत्मभाव में सस्थित, सब द्वारा समादृत श्री जयमल्ल जी ने केवल आहार, रस आदि वर्जित शुष्क एवं नीरस तप-साधना ही नहीं की, उन्होंने ध्यान, अध्ययन तथा भक्ति-रस से आप्लावित सरस अन्त-साधना भी की। अर्थात् एक ओर जहाँ तपस्वी थे, दूसरी ओर ध्यानी, अध्येता तथा भक्तिशील थे।

(४८)

उनकी साधना अध्यात्म—रस से ओत प्रोत थी। उसमें निर्वेद तथा भक्ति की रस-धारा छलछलाती थी। परमात्म-स्तवन से सयुक्त होने से वह ऐसी थी, मानो शर्करा-विमिश्रित—चीनी मिला दूध हो।

(४९)

उनकी साधना करुणा के अमृत से सिञ्चित थी। उसमें उज्ज्वल वैराग्य-भाव-प्रसूत निर्मल शान्ति विद्यमान थी। ज्ञान की दिव्य ज्योति से वह उद्दीप्त थी, चन्द्रज्योत्स्ना-सदृश प्रज्ञा से अमल-धवल थी, सात्त्विक प्रेमानुराग से रञ्जित थी, आत्म-ज्ञान रूप सूर्य की किरणों से वह उद्भासित थी। वे जयमल्ल जिन्होंने काम, क्रोध जैसे प्रबल मल्लों—पहलवानों को जीत लिया था, यों अनेक भाव तथा रस पूरित साधना में अभिरत थे।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। शार्दूलविक्रीडित में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा अन्त में एक गुरु होता है।[1] इस में बारह तथा सात पर यति होती है।]

□

१. सूर्याश्वैर्मसजस्तता सगुरव शार्दूलविक्रीडितम्। —वृत्तरत्नाकर ३ ९९

(५[illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(५७)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(५८)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(५९)

भावनामृत-सिक्त-शान्तिमनसा वैराग्यभावोज्ज्वलाम्,
ज्ञानोद्दीप्तिमती मनीन्दुवदना प्रेमानुरक्ताऽऽननाम् ।
गीतामास-सुबोध-रश्मिभिरनुस्यूता शिवां साधनाम्,
नाना-भाव-रसोद्गम-प्रवणतां श्रीजय्यमन्तोऽकरोत् ॥

(४६)

मुनीश्वर श्री जयमल्ल जी ने उस एकान्तर तपोमय व्रत का न केवल एक वर्ष या पाँच वर्ष, प्रत्युत पूरे सोलह वर्ष तक निरन्तर पालन किया।

(४७)

आत्मभाव मे सस्थित, सब द्वारा समादृत श्री जयमल्ल जी ने केवल आहार, रस आदि वर्जित शुष्क एवं नीरस तप-साधना ही नही की, उन्होंने ध्यान, अध्ययन तथा भक्ति-रस से आप्लावित सरस अन्त-साधना भी की। अर्थात् एक ओर जहाँ तपस्वी थे, दूसरी ओर ध्यानी, अध्येता तथा भक्तिशील थे।

(४८)

उनकी साधना अध्यात्म—रस से ओत प्रोत थी। उसमे निर्वेद तथा भक्ति की रस-धारा छलछलाती थी। परमात्म-स्तवन से सयुक्त होने से वह ऐसी थी, मानो शर्करा-विमिश्रित—चीनी मिला दूध हो।

(४९)

उनकी साधना करुणा के अमृत से सिञ्चित थी। उसमे उज्ज्वल वैराग्य-भाव-प्रसूत निर्मल शान्ति विद्यमान थी। ज्ञान की दिव्य ज्योति से वह उद्दीप्त थी, चन्द्रज्योत्स्ना-सदृश प्रज्ञा से अमल-धवल थी, सात्त्विक प्रेमानुराग से रञ्जित थी, आत्म-ज्ञान रूप सूर्य की किरणो से वह उद्भासित थी। वे जयमल्ल जिन्होंने काम, क्रोध जैसे प्रबल मल्लों—पहलवानों को जीत लिया था, यो अनेक भाव तथा रस पूरित साधना मे अभिरत थे।

[इस श्लोक मे शार्दूलविक्रीडित छन्द है। शार्दूलविक्रीडित मे मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा अन्त मे एक गुरु होता है।[1] इस मे बारह तथा सात पर यति होती है।]

□

---

१ सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्। —वृत्तरत्नाकर ३.९९

तृतीय स्तबक

(१)

जयमल्ल - मुनिर्मनोधया,
सुधयाऽऽसिक्त - मतिर्महात्मभिः ।
सह चन्द्र इवोर्मिभिर्दिवि,
भुवि रेजे सित-कौमुदी-श्रिया ॥

(२)

मतिरस्य मुनेर्महात्मनः,
प्रखराऽऽसीत् स्मृतिरप्यनाहता ।
चिर - कालमति - स्थिराऽभवत्,
दृढमप्यध्यवसायवन्मनः ॥

(३)

मनसोऽपि तदैक - लक्ष्यता,
अत ऐकाग्र्यमजायताऽऽत्मनः ।
स्मृतिरप्यति - शक्ति - शालिनी,
समभूदद्भुत - चित्र - कारिणी ॥

(४)

जयमल्ल - महात्मनो मनः,
पल-मध्ये हि गलाग्रमग्रहीत् ।
महतोऽपि सुपुस्तकस्य रा-
द्विषय बिम्बमिवामलञ्जलम् ॥

तृतीय स्तबक

(१)

जैसे आकाश में चन्द्र अपनी निर्मल ज्योत्स्ना द्वारा तारों के साथ सुशोभित होता है, उसीप्रकार मुनिवर श्री मघवगणी भी विवेक रूप अमृत से आप्लावित अपनी प्रज्ञा-रूप ज्योत्स्ना द्वारा लोक में अनेक श्रमणों के साथ शोभायित थे।

[इस स्तबक में यहां से १०वें श्लोक तक वियोगिनी छन्द है। वियोगिनी के पहले व तीसरे चरण में सगण, सगण, जगण व अन्त में गुरु होता है तथा दूसरे व चौथे चरण में सगण, भगण, रगण व अन्त में लघु और गुरु होता है।[1]]

(२)

उन महान् साधक की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उनकी स्मरण-शक्ति निर्मल थी, चिरकाल-स्थायिनी थी। उनका मन अति दृढ़ संकल्प-शक्ति एवं सहन-शक्ति से युक्त था।

(३)

दृढ़ संकल्पशील, आत्मवशवर्ती मन एकाग्र होता है। उसमें अन्तरात्म में एकाग्रता आती है। सतत स्मृति में आत्यन्तिक निर्मलता निष्पन्न होती है तथा बहुमुखी विलक्षणता का उद्भव होता है।

(४)

जैसे निर्मल, स्थिर जल किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार बुद्धिरूप निर्मलता एवं स्थिरता के कारण श्री जयाचार्य भी किसी भी सम्पूर्ण विषय को तत्काल ग्रहण कर लेते थे।

१ विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी। —छन्दोमञ्जरी ६

(५)

स तु दीक्षित एव तत्क्षणात्,
शुभु चाल्पायु सुसूत्र-पुस्तकम् ।
श्रमणाख्यमनल्पपत्रकम्,
हृदि कण्ठाग्र-भुवं समाकरोत् ॥

(६-७)

अत एव हृयेष्वहःसु सा,
मुनि - दीक्षा महती बभूव ह ।
अपि चैक - दिनैक - यामके,
शर - सूत्राण्यरटत् स लीलया ॥
प्रहरेण कदाचिदेकदा,
मुनिरेकेन स सूत्र-पञ्चकम् ।
निरयावलिकामय वरं ।
दृढ-कण्ठस्थमहो चकार ह ॥

(८)

स निजस्य विचित्र - कर्मणा,
बहु - दूरेऽपि सुमान-पूर्वकम् ।
श्रुत एव बभूव मोहजित् ।
मदजिद् भूधर-शिष्य एषकः ॥

(९)

स हि भारत - भूमि - मण्डले,
निखिले ख्यातिमवाप सन्मताम् ।
परमेष मदस्य चाल्पकम्,
परमाण्वंशमपीह नोऽभजत् ॥

(१०)

जयमल्ल - मुनिर्गुहीतवान्,
यममेकं न च तद् दिरावृतम् ।
स गृहीतमपूर्णमुज्झितुम्,
न विजानाति गुरुर्म किञ्चन ॥

(५)

उनकी ग्रहणशीलता इतनी तीव्र थी कि दीक्षित होने के बाद शीघ्र ही उन्होंने विस्तृत श्रमण-सूत्र कण्ठस्थ कर आत्मसात् कर लिया।

(६-७)

उपर्युक्त कारण ही था कि उनकी बड़ी दीक्षा जिसके पूर्व श्रमण-सूत्र अनिवार्यत कण्ठाग्र होना चाहिए, केवल सात ही दिनो मे संपन्न हो गई।

इतना ही नहीं, उन्होंने एकदिन एक ही पहर मे निरयावलिका—कल्पिका, कल्पावतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला तथा वृष्णिदशा—ये पाँचों सूत्र भली-भाँति कण्ठाग्र कर लिये।[1]

(८)

संयम तथा श्रुत आराधना से अनुप्राणित अपने अद्भुत कार्यों से श्री जयमल्ल जी आचार्य श्री भूधर जी के एक मोहजयी एव मदजयी आदर्श शिष्य के रूप मे दूर-दूर तक सम्मानित एवं विख्यात हो गये।

(९)

उन्होंने समग्र भारत मे साधकोचित ख्याति—प्रशस्ति प्राप्त करली, परन्तु यह सब होते हुए भी उन्हें अणु—अश मात्र भी अभिमान नही हुआ।

(१०)

मुनिवर श्री जयमल्ल जी ने जब जब जो विशेष व्रत—संकल्प किया, उसे पूरा करके ही छोड़ा, बीच मे स्थगित कर दुबारा स्वीकार करने की उन्हें कभी आवश्यकता नही हुई। वे ग्रहण किया हुआ उत्तम कार्य मानो कभी अधूरा छोड़ना जानते ही नहीं थे।

१ पांच सूत्र तो एक पहर मे पढ़कर कण्ठै करिया रे। —गुणमाला

(१६-१७)

शरदि प्रशमान्वितो मुनिः,
जलमध्ये ननु भीष्मतरे द्रुतं ।
शयने भवि पुष्टमस्पृशन्,
इव निद्रां निशि निर्गमानसं ॥

कठिनं व्रतमेतदुत्तमम्,
मरणान्तं गुणरत्न सागरे ।
स भयङ्करमेतदुत्तमम्,
चरणमुद्योत्य सदा स्वपालयत् ।

(१८-१९)

शयनं न चकार कर्हिचित्,
उपविष्टोऽभयदेव सन्ततम् ।
नहि केवलमेक - रात्रिकम्,
व्रतमेतत् स दधार सन्मुनिः ॥

अपि घोरतम त्विद व्रतम्,
कठिनादप्यति - भूरि घोरकष्टम्,
शतकार्ध - समाः समागताः,
परिपूर्णा अशयिष्ट नैव सः ॥

(२०-२१)

प्रतिपादितमेतदेव हि,
बहु-शास्त्रेषु च भूरिशः श्रुतम् ।
दिवसे निशि वा निशीथके,
मुनयो जाग्रति नैव शेरते ॥

मुनयो जिन - मार्गे - साधकाः,
नमसा पञ्चक - मन्त्र - जापकाः ।
क्षणशः स्वयमात्मनि स्थिताः,
सततं जाग्रति सावधानतः ॥

(१६-१७)

उत्कृष्ट वैराग्यशील, भीष्म के सदृश दृढ़ संकल्पी मुनि श्री जयमल्ल जी ने एक कठोर अद्भुत प्रतिज्ञा की कि वे अब से आगे यावज्जीवन भूमि से पीठ सटाकर—पृथ्वी पर लेटकर कभी नहीं सोयेंगे। अर्थात् रात्रि में नींद भी वे बैठे-बैठे ही लेंगे उन्होंने इस नियम का आजीवन पालन किया।

(१८-१९)

उन्होंने कभी लम्बे होकर—लेटकर शयन नहीं किया। निद्रा-पूर्ति भी उन्होंने सदा बैठे-बैठे की। उन सात्त्विकचेता साधक ने मात्र एक रात यों किया हो, ऐसा नहीं था। उन्होंने इस अत्यन्त घोर, कठिन से भी कठिन, उत्कट व्रत का निरन्तर पचास वर्ष तक—जब तक वे जीवित रहे सम्यक् रूप से पालन किया—कभी लेटकर नहीं सोये।

(२०-२१)

'मुणिणो सया जागरंति' आदि रूप में अनेक शास्त्रों में उल्लेख है और बहुत बार सुना है—मुनि दिन में, रात्रि में, अर्धरात्रि में जागते रहते हैं सोते नहीं।

अर्हत्-प्ररूपित पथ पर गतिशील मुनि नमस्कार-महामन्त्र का जप करते हुए, प्रतिक्षण आत्मचिन्तन में अभिरत रहते हुए सावधानी के साथ सदा जागते रहते हैं।

जागते रहने से शास्त्रकारों का आशय यहाँ प्रमाद न करने से है, न सोने से नहीं, पर मुनिवर श्री जयमल्ल जी का अपना यह असाधारण वैशिष्ट्य था, उन्होंने जागते रहने का शब्दानुसारी अर्थ 'जो न सोता है' है, उसे भी अपने कठोर साधनामय एवं तपोमय जीवन में अर्थात् लेटकर न सोने के रूप में चरितार्थ कर दिखाया।

(२२)

ध्यानवन्न निमीलिताक्षिण:,
खग भारण्ड इव प्रजन्त्यमी ।
विगत - प्रमदा मनीषिण:,
मुनयोऽन्तर्मुख - वृत्तयो बभु: ॥

(२३)

स उदार-मना जयो मुनि:,
सततं 'जाग्रत' मामवा इति ।
उपदेश - रत: स्व - कर्मणा,
भुवि जागर्ति स सन्ततं स्वयम् ॥

(२४)

जय - वृत्तिरिय जयं सदा,
स्व - मनोऽन्तर्मुख - वृत्तिमानयत् ।
अनयाऽस्य सुसाधनैव नो,
ह्यपि सूच्यग्र - मतिर्बभूव ह ॥

(२५)

अपि चिन्तन - शीलता मुने:,
अति - सूक्ष्मेक्षिकया सहैव हि ।
कवि - कर्मणि सा निरन्तरम्,
समवर्धिष्ट सदोत्तरोत्तरम् ॥

(२६)

स समोत्तम - काव्य - लेखने,
प्रतिभा - सम्पदनुग्रहान्वित: ।
विविधान्वय - भाव - पूरितान्,
नव - शब्दान् मणिवज्जुगुम्फ ह ॥

(२७)

सरसीव मनस्यपि प्रधी,
कमलिन्योऽस्य समुद्भवन्त्यहो ।
प्रतिभा - जल - सिक्त - बीजवत्,
हृदि भूमौ कविता - लतोप्यते ॥

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

(२६)

उन्हें [illegible] रूप से [illegible]-वैभव—विशिष्ट वाग्वशिता प्राप्त थी, जिससे वे विविध प्रकार के नये-नये भाव व्यक्त करने वाले नये-नये शब्द-रत्नों से काव्य-मालाएँ गूँथते रहे।

(२७)

उनके मन रूपी सरोवर में उत्कृष्ट भावरूपी कमल खिलखिल होते थे। जल से सिञ्चित बीज की तरह प्रतिभा से समायोजित हो वे भाव हृदय-रूपी भूमि में काव्य-लता के रूप में लहलहाते थे।

(२८)

गुरुस गठितस्य - मानितम्,
शुभगेहा - प्रगरस्य - दीपिताः ।
मति - सौन्दर्यता महैव तत्,
ननु तस्मै गुणमञ्जरि ददौ ॥

(२९)

सहसा परमेण सोऽधिकः,
प्रतिभाया पतिरेव योजित. ।
जयमल्ल - महामुनिर्गुरुः,
शुशुभे तप्त - सुवर्ण - मूर्तिवत् ॥

(३०)

सरलोऽपि निजात्म - संयमे,
स यमयोग्र - कठोर - साधकः ।
अभवत् खलु सर्वतोमुखी,
सुमुनेस्तस्य सजीव - साधना ॥

(३१-३३)

स जयः पर-दुःख - कातरः,
पर - दुःखं यदि किञ्चिदल्पकम् ।
परमाण्वपि तस्य मानतः,
प्रभवेच्चेदधिकं शतादपि ॥

परमेव मुनिस्वदुःखकम्,
हिमवत्पर्वत - तुल्यमन्वभूत् ।
निज - दुःख - विशाल - सागरम्,
ननु भूयोऽप्यधिकं ततो भवेत् ॥

परमेव जयोऽन्वमन्यत,
परमाणोरपि तुच्छकं लघु ।
महतां प्रकृतिर्हि तादृशी,
सहतेऽन्यस्य न दुःखमण्वपि ॥

(२८)

कठिनाई से साधे गये तप ने ही मानो मुनिवर श्री जयमल्लजी को उत्तम मेधा, प्रखर प्रतिभा, आत्म-दीप्ति—ओजस्विता तथा तीव्र मननशीलता के साथ-साथ काव्य-चमत्कृति—चामत्कारिक कवित्व-शक्ति प्रदान की। अर्थात् जहाँ एक ओर वे कठोर तप साधक थे, दूसरी ओर चमत्कारी—अति उत्कृष्ट कवि भी थे।

(२९)

कविता के शब्दों में यों भी कहा जा सकता है, उत्कृष्ट तप ने मानो उन्हें प्रतिभारूपी कुमारिका के साथ पति के रूप में जोड़ दिया। अर्थात् वे अप्रतिम प्रतिभाशील थे। उनका व्यक्तित्व इतना निखरा हुआ और तेजस्वी था कि वे परितप्त स्वर्ण-मूर्ति के समान देदीप्यमान लगते थे।

(३०)

वे स्वभाव से सरल थे, पर संयम-साधना में उग्र एवं कठोर थे। यों सरलता और कठोरता का उनमें बड़ा सुन्दर समन्वय था। उनकी साधना में सजीवता थी, सर्वतोमुखी विकास था।

(३१-३३)

मुनिवर श्री जयमल्लजी के व्यक्तित्व की अपनी विशेषता थी, वे पर-दुःख कातर थे—दूसरों का दुःख देख घबरा उठते थे। दूसरों के अणु जितने अल्प-दुःख को भी सैकड़ों गुना अधिक, हिमालय जितना भारी समझते थे।

अपने कष्टों के सागर को, उसमें भी कहीं और अधिक हो, उसको भी वे अणु से भी तुच्छ मानते थे। महापुरुषों की प्रकृति ही ऐसी होती है, वे दूसरों के अणुमात्र दुःख को भी सह नहीं पाते।

(३४)

निज - बोध - विनोद - मानसान्,
[illegible] न [illegible]।
हृदयं [illegible] तदा,
[illegible] तदिच्छयैव ॥

(३५-३८)

भव एव दयार्द्र - हृन्मुने,
वदति [illegible] - चेतना।
न ममाऽस्ति विमोक्ष - कामना,
मम नैवाऽस्ति [illegible] ॥

न च काऽपि पदाभिलाषिता,
न च मानेऽपि मम स्पृहाल्पिका।
अयमेव मनोरथो मम,
मनुजान् ज्ञान - धनेन योजये ॥

तमसान्ध - दुराग्रहाञ्जनान्,
ज्वलतोऽज्ञान - दवाग्नि - विप्लवे।
मद-मोह - कुदैन्य - तापितान्,
शिव - बोधामृतगान् कराम्यहम् ॥

सुखिनो मनुजांश्चराम्यहम्,
निज - बोधामृत - पान - निर्भयान्।
इयमेव मदीय - कामना,
त्वधिकं किञ्चिदह न कामये ॥

(३९)

स इमां हृदये दयालुनि,
स्वयमेव स्थित - कामनां शुभाम्।
परिपूरयितुं मनो दधे,
भुवि सज्ज्ञान - विकास - हेतुना ॥

(३४)

मुनिश्री आत्मबोध-रहित लोगों को देखते ही दुःखाकुल हो जाते । बिजली की सी गति से उनके हृदय मे करुणा का स्रोत उमड़ पड़ता—अहो ! अज्ञान के कारण ये प्राणी कितने दुःखी हैं ।

(३५-३८)

मुनिवर के दया-द्रवित हृदय से ये स्वर फूट पड़ते—मुझे मोक्ष की चाह नही है और न मुझे और किसी प्रकार का सुख ही चाहिए । न मुझे कोई पद की कामना है और न जरा भी मान ही की भावना । मेरी एक मात्र यही मन कामना है, मैं जन-जन को ज्ञान के धन से संयुत कर सकूँ—अबोध जनों को सद्बोध दे सकूँ ।

तमस्—तमोगुण के आवरण से ढके हुए, अज्ञान की भीषण अग्नि मे झुलसते हुए, अहंकार तथा मोह जैसे दुष्ट दैत्यो से उत्पीड़न पाते हुए लोगो को श्रेयस्कर ज्ञानामृत का पान करा सकूँ ।

आत्म-ज्ञान-रूपी अमृत का पान कराकर मैं जन-जन को निर्भय और आनन्द-मय बना सकूँ, केवल इतनी ही कामना करता हूँ, और कुछ नहीं चाहता ।

(३९)

यों चिन्तन कर उन्होने अपने दयार्द्र हृदय में सहजरूप से उत्पन्न इस पवित्र भावना को पूर्ण करने, जन-जन को सत्य का उद्बोध देने का मन ही मन निश्चय किया ।

(४०)

स तदर्थमिमां मनोभुवं,
श्रमितुं ज्ञान-धनः स्थिरेव हृ ।
नगराननगराणि गोऽक्रमीत्,
परिमर्द्दनन् पथि कण्टकाञ्छिलाः ॥

(४१)

मनुजादि-चराचरा इमे,
श्रम-जीवा निशि शेरते सुखम् ।
परमेष मुनिस्त्वहर्निशम्,
सततं जाग्रदचिन्तयच्छिवम् ॥

(४२)

हृदि यस्य परार्थ-चिन्तनम्,
सततं सम्भवतीह भूतले ।
वद तस्य पुनः किमस्ति यत्,
सुलभं नास्त्यखिले जगत्यपि ॥

(४३)

उपकार - परायणात्मनः,
जगतश्चित्त जितो महात्मनः ।
चरणे विलुठत्यहो नृपः,
मघवाऽपीच्छति पाद-धूलिकाम् ॥

(४४)

जयमल्ल - महा - मुनो रजः,
स्पृशति स्वेन पदेन यत्पथ ।
शिरसा ह्यभिवन्दितुं सदा,
तमिहेच्छन्ति सदा मनीषिणः ॥

(४०)

अनुभूति-निष्पन्न ज्ञान ही जिनका धन था, वे मुनिवर्य श्री जयमल्लजी अपने मन की इस उदात्त भावना को सार्थक करने हेतु मार्ग मे आने वाले काँटो और पत्थरो को रौंदते हुए—तज्जनित कष्टो की परवाह न करते हुए ग्राम ग्राम नगर-नगर मे विचरने लगे—उग्र पाद-विहार पर निकल पड़े।

(४१)

इस ससार मे मनुष्य ही क्या—जगम, स्थावर सभी प्राणी रात मे सुख की नींद सोते है पर मुनि श्री जयमल्लजी का एक असाधारण ही जीवन था, वे रात-दिन जागरणशील रहते हुए (रात मे भी लेटकर न सोते हुए) निरन्तर आत्म-कल्याण तथा जनकल्याण के ही सत्चिन्तन मे निरत रहते थे।

(४२)

जिन महामानव के हृदय मे सर्वदा परोपकारमय चिन्तन चलता रहता है, बताएँ, ससार मे ऐसा क्या है जो उन्हें सुलभ न हो अर्थात् सारा ससार उनके प्रति अभिनत रहता है, उन्हें कुछ भी असुलभ नही होता।

(४३)

जो महापुरुष प्राणी मात्र का उपकार करने में लगे रहते हैं, मनोजयी होते है, भूपति भी उनके चरणो मे लोटते हैं। इतना ही नहीं, देवराज इन्द्र तक उनकी चरण-धूलि लेना चाहते हैं।

(४४)

महान् श्रमण जयमल्ल अपने चरणो से जिस मार्ग की धूलि का संस्पर्श करते, उद्बुद्धचेता विज्ञजन मस्तक से उसे अभिवन्दित करने की इच्छा लिये रहते थे।

(४५-४६)

भगवांस्त्रिशला - सुनन्दनः
जित-मारः पथि यस्य सर्वदा ।
पुरतः पद - चिह्न - रञ्जितम्,
कुरुते मृत्कण - मण्डलं मुनेः ॥
स मुनिर्जयमल्ल - निर्मलः
कुपथं वा विपथं कथं भजेत् ।
सुपथाद् भगवत्प्रदर्शिताद्,
व्यचलन्नैव तिलार्ध-मात्रकम् ॥

(४७)

इदमेव रहस्यमुत्तमम्,
जयमल्लस्य सुजीवने महत् ।
सफलत्वमसौ सदाऽऽप्तवान्,
विफलः कोश-बहिष्कृतोऽभवत् ॥

(४८)

यमवाप्य जगाम सन्मुनिः
भुवि पन्थानमनिन्द्य मुत्तमम् ।
स महाजन-सवितः सदा,
सरलश्चोज्झित-कैतवः स्थितः ॥

(४९)

रविरत्र सदा प्रकाशते,
रजनीशस्तु हत-प्रभोऽस्ति ह ।
सततं द्युमणावुपस्थिते,
क्व च तारा क्व शशी निशापति ॥

(५०)

वचन रवि - तु पमोजसा,
सुमुनेरस्य शुचेर्जगद्गुरोः ।
सजनः सकलो ह्यवर्तत,
स उवाहाऽस्य वचोऽमृतं मुदा ॥

चतुर्थ स्तबक

(१)

समस्तस्य लोकस्य कल्याणमिच्छु:,
जय: शाकमन्यैः सुशिष्यैर्महात्मा।
चलन् धर्म - सञ्चार - हेतो: पृथिव्याम्,
उदारार्द्र - चेता पयोध्यावृतायाम् ॥

(२)

नृपालादि - लक्ष्म्यान्वितैरन्य - सद्भि:,
समान - स्थिति धारयद्भिर्जनैश्च।
समानेन रूपेण राज - प्रजाभि:,
मिलन्नाप सम्पर्कमन्योन्य - शुद्धम् ॥

(३)

विहारे मुनेरस्य मार्गे महान्त:,
नृपा: सङ्गता निर्धना मानवाश्च।
परन्तु व्यतीतोच्च - नीचादि - भेद:,
समानेन भावेन सर्वानपश्यत् ॥

चतुर्थ स्तबक

(१)

उदारचेता महान् साधक मुनिवर श्री जयमल्लजी ससार के लोगो का कल्याण करने की भावना लिये अपने अन्तेवासी श्रमणो के साथ सागरावृत पृथ्वी पर धर्म-प्रचार करते हुए पाद-विहार करते रहे।

[इस स्तबक मे यहाँ से ५१वें श्लोक तक भुजङ्गप्रयात छन्द का प्रयोग हुआ है। भुजङ्गप्रयात में चार यगण होते हैं।[१]]

(२)

वे राजाओं, धनियों तथा सामान्य स्थिति के लोगो के साथ समान भाव से मिलते थे। उनकी दृष्टि मे छोटे-बड़े, धनी निर्धन का कोई भेद नही था। राजा और प्रजा—सभी के साथ वे सात्विक, उदारतापूर्ण बर्ताव करते थे।

(३)

उनकी पद-यात्रा मे जहाँ समय समय पर बड़े-बड़े राजा महाराजा उनके सम्पर्क मे आये, वहाँ अनेक निर्धन व्यक्ति भी उनके सान्निध्य मे उपस्थित होते। पर उनके मन मे ऊँच-नीच का जरा भी भाव नहीं था। वे सभी को समान दृष्टि से देखते।

(४)

जगत् स्वात्मनीदं पश्यन् समग्रम्,
जगत्यां समस्तां निजात्मानमेव।
अतो निर्भयो भारते विचरन् स,
जनानां भयं नाशयित्वा महात्मा ॥

(५)

अहिंसा - व्रतस्य प्रचारं प्रकुर्वन्,
प्रसिद्धिं परां प्राप्य सर्वत्र भूमौ।
नृपैश्चान्य - सामान्य - लोकैः सुपूज्यः,
ससम्मानमाचार्य - पीठे न्यवेशि ॥

(६-७)

तदानीं विकानेर - पुर्यां यतीनाम्,
प्रचारस्य बाहुल्यमासीद् बलेन।
यतिभ्योऽन्य- साधुस्तदीयेधिकार-
स्थित-क्षेत्र-भूमौ प्रवेशं प्रकर्तुम् ॥
कथञ्चिन्मनस्येक - साहस - भागम्,
क्षणस्यापि वासाय चित्तं प्रकुर्यात्।
यथा सिंह - विक्रान्त - देशेऽन्य - जीवाः,
प्रवेशाय दु साहस नो चरन्ति ॥

(८)

परन्त्वेष आचार्यवर्यो जयाख्यः,
विकानेर - मध्येऽपि धर्म - प्रचारम्।
स्वीकर्तुमैच्छन्महा - मल्ल - जैत्रः,
यथा सिंह - पृष्ठ भवानी समास्ते ॥

(४)

मुनिवर श्री जयमल्लजी अपनी आत्मा में समस्त जगत् को देखते तथा समस्त जगत् में अपनी आत्मा को देखते अर्थात् संसार के सभी प्राणियों को वे आत्मवत् समझते। भारतभूमि में वे निर्भयतापूर्वक विहार करते, दूसरों का भी मित्र—हितैषी शुभचिन्तक की तरह भय मिटाने अर्थात् अहिंसा के मार्ग पर लाकर उन्हें भय शून्य बना देते। तात्पर्य यह है कि अहिंसा-प्रवण साधक स्वयं भी निर्भीक होता है तथा औरों को भी निर्भीक बनाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा-रूप यम के सध जाने पर "अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ सर्वभूत वैर-त्याग "जो कहा है, कवि ने मुनिवर की तीव्र अहिंसामय साधना की ओर उसी आशय से संकेत किया है।

मित्र का एक अर्थ सूर्य भी है। अहिंसामय तेज से वे सूर्य की तरह देदीप्यमान थे।

(५)

मुनिवर श्री जयमल्लजी ने पृथ्वी पर सर्वत्र अहिंसाव्रत का प्रचार करते हुए अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की। राजाओं तथा सामान्य जनों द्वारा सम्मानपूर्वक वे आचार्य पद पर समासीन किये गये।

(६-७)

उन दिनों बीकानेर नगर में यतियों का बड़ा प्रबल एवं बहुल प्रचार था। उन्होंने मानों उसे अपना अधिकार-क्षेत्र मान रखा था। उनके अतिरिक्त अन्य कोई साधु वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता था। क्षण के हजारवें भाग जितने समय भी वहाँ प्रवास करने का कोई मन में सोच क्यों लें। जैसे सिंह द्वारा अधिकृत वन में अन्य प्राणी प्रवेश करने का दु साहस नहीं कर पाते वैसे अन्य साधुओं को वहाँ प्रवेश करने का साहस नहीं होता था।

(८)

महामल्लों के विजेता—दुर्दान्त विरोधियों को अहिंसा द्वारा जीतने वाले आचार्य श्री जयमल्लजी ने बीकानेर में धर्म-प्रचार करने की इच्छा की। जैसे दुर्गा सिंह की पीठ पर आसीन होती है, सिंह तो उनका वाहन है, उससे उन्हें कैसा भय—उसी प्रकार श्री जयमल्लजी ने निर्भयता से यति-अधिकृत क्षेत्र बीकानेर की ओर प्रयाण किया।

(९)

कदाचिद् यतीना प्रणेता कुतश्चित्,
प्रशुश्राव यन्मल्ल - धर्म - प्रवीर ।
विकानेर - मध्येऽपि धर्म - प्रचारम्,
चिकीर्षु समायाति दृग्वत् प्रभाते ॥

(१०)

यतीना स नेता तदैव प्रगत्य,
न्यषेधत् प्रवेश जयस्य प्रसह्य ।
भय दर्शयन् प्राण-घातं मुनिभ्य,
परन्त्वेष मल्लो निवृत्तो न तस्मात् ॥

(११)

विरोधेऽपि तेषा यतीना कृते स.,
जयो निर्भयो नैव सङ्घर्षमिच्छ. ।
प्रबोध्यात्म-शक्ति श्मशानस्य मध्ये,
नृपच्छत्र-शालासु वासञ्चकार ॥

(१२-१३)

न शाला-प्रदेशो जयस्य प्रभावात्,
शुभ-स्थानकस्यैव शाला वभूव ।
यमेव प्रदेश मुनि साधकस्तु,
समाश्रित्य तिष्ठेत् स एव प्रदेश: ।
भवेत् साधनोपासना-मन्दिरं न,
मुनीना सुपादाब्ज-चिह्नानि यत्र ।
सुमाङ्गल्य-देश क्षणेनैव सोऽभूत,
भवेन्मङ्गल मङ्गल यत्र साधु ॥

(१४)

जयस्तत्र सच्छत्र-देशे गुणेन,
समासीन आत्मानमेव प्रदध्यौ।
तदन्येऽपि सच्छिष्य - वर्गास्तथैव,
गुरु सर्वथा तस्य सामन्वगुर्वन् ॥

(९)

यतियों के प्रधान ने किसी से सुना कि धर्मवीर—ओजस्वी धर्मनायक श्री जयमल्लजी, प्रभातकाल में जैसे सूर्य आता है—उदित होता है, उसी तरह तेजस्विता—निर्भीकता के साथ आ रहे हैं।

(१०)

वह सीधा श्री जयमल्लजी के पास आया। प्राणघात का भय दिखलाया, प्रवेश की मना ही की परन्तु आत्मवली मुनिवर वापस नहीं लौटे।

(११)

यतियों द्वारा किये गये इस विरोध से श्री जयमल्लजी को जरा भी भय नहीं था पर वे अनावश्यक संघर्ष करना नहीं चाहते थे। इसलिए वे अपनी आत्म-शक्ति जाग्रत कर—साहस पूर्वक मरघट में राजाओं की छतरियों में ठहर गये।

(१२)

मुनिवर श्री जयमल्लजी के तप-प्रभाव से छतरियाँ उत्तम स्थानक जैसी प्रतीत होने लगीं। वास्तव में साधनाशील मुनि जहाँ आश्रय लेते हैं, वही धर्मस्थल बन जाता है। जहाँ सात्त्विकचेता मुनियों के चरण-चिह्न पड़ते हैं, वह स्थान सहज ही साधना एवं उपासना का मन्दिर हो जाता है। यही कारण था कि वह स्थान क्षण भर में मंगलमय बन गया। सच ही है, जहाँ साधु जाते हैं, वहाँ जंगल में ही मंगल हो जाता है।

(१४)

मुनिवर श्री जयमल्लजी छतरियों में सुख-शान्ति पूर्वक विराजित होकर आत्म-ध्यान—आत्मोपासना में निरत हो गये। उनके शिष्यों ने भी अपने गुरु की कथनी और करनी का अनुसरण किया अर्थात् वे भी अपना समय ध्यानाभ्यास में लगाने लगे।

(१५-१६)

यथाऽऽदित्य - सद्भाव - विज्ञान-वेत्ता,
द्विजो वेद सूर्याऽऽगम सुप्रभाते।
खगाना विरावेण चान्ये मनुष्या,
निशाया विनाशे प्रकाशं विदन्ति ॥

तथा जोधपुर्या अमात्यस्य पुत्री,
विकानेर-पुर्या अमात्यस्य माता।
सुनाम्ना श्रियायुक्त - रामाकुंवारी,
जयस्यागमं वेद विश्वस्त-सूत्रात् ॥

(१७-१८)

श्मशाने शिव शङ्करः श्रीगुरुर्मे,
निवास करोति स्थितायां मयीह।
समाचारमेनं विदित्वाऽवलोक्य,
गुरोर्दुर्विरोधं कृतं दुष्ट - पुम्भिः ॥

स्वय साऽतिदुःखेन निर्वेपमाना,
अभूद् रोम-कूपेष शूलेनविद्धा।
यथा निर्धनो द्रव्यमाप्य प्रनष्टे,
तस्मिंस्तथा साऽति दुःखान्विताऽभूत् ॥

(१९)

न यावद गुरुर्मे समायाति पुर्याम्,
ससम्मान-भिक्षां न यावत् प्रकुर्याति।
अहं तावदन्नोदके नैव खाद्याम्,
प्रतिज्ञामिमां साऽति - वेगाच्चकार ॥

(२०)

सुतो मातृभक्तस्तु मात्रा सहैव,
सदा भोजनं मातृयुक्तः करोति।
अनन्यद कस्मान भुङ्क्षे स इत्यम्,
सचिन्तोऽगमन्मातर पाप्यपच्छत् ॥

(१५-१६)

जैसे सूर्य के सद्भाव—गति, प्रभाव आदि से सम्बद्ध विज्ञानवेत्ता ब्राह्मण अपने ज्ञान द्वारा सूर्य का आगमन जान लेता है, साधारण मनुष्य पक्षियों की चहचहाहट तथा रात के समाप्त हो जाने पर प्रकाश का अनुमान लगा लेते हैं,

उसी प्रकार जोधपुर के दीवान की पुत्री तथा बीकानेर के दीवान की माता श्री रामाकुंवरी बाई को गुरुवर श्री जयमल्ल जी के आगमन का विश्वस्त सूत्र से पता चला।

(१७-१८)

"मेरे गुरु का दुर्जनों ने दुष्टता पूर्ण विरोध किया है, गुरुवर श्मशान सेवी शंकर की तरह छतरियों में निवास कर रहे हैं। मेरे यहाँ होते हुएँ भी यह हो रहा है।" यह सोचकर वह दुःख से काँप उठी, मानो उसका रोम-रोम शूल से बिंध गया हो जैसे किसी निर्धन को प्राप्त धन नष्ट हो जाने पर घोर विषाद होता है वही स्थिति श्री रामाकुंवरी बाई की हो गई।

(१९)

उसने तत्काल प्रतिज्ञा की— जब तक मेरे गुरु नगर में प्रवेश नहीं करेंगे, आदरपूर्वक भिक्षा नहीं लेंगे—गोचरी नहीं करेंगे, तब तक मैं न अन्न लूंगी और न जल ही।

(२०)

रामाकुंवरी बाई का पुत्र बड़ा मातृ-भक्त था। वह सदा माँ के साथ ही भोजन करता था। जब उसे पता चला—माँ आज भोजन नहीं करती तो बहुत चिन्तित हुआ—ऐसा कैसे हुआ? वह माँ के पास आया और उसने माँ से कारण पूछा।

(२१)

गुरु[illegible] ! नैताऽसि [illegible] मति [illegible],
मया [illegible] भवता [illegible]।
कथं नैव [illegible] भोज्यं [illegible]।
परित्यक्तुमिच्छामि [illegible] [illegible] ! ॥

(२२)

[illegible] मोऽकरोत् [illegible],
सुबोधाय [illegible] मा जगाद।
गुरु पूजनीय श्मशाने मदीयः,
शरीरस्य - पानीय - हीनोऽधिवासम् ॥

(२३)

मदाज्ञयागुरुर्भोजनात्मान हीनः,
न दूरे पुरश्चैत्य-याग करोति।
तदाऽहं कथं भोजनाय प्रवृत्तिम्,
प्रकुर्यां सुपुत्रात्र हर्म्ये सुमाता ॥

(२४)

निशम्यैवमार्त - स्वरं मातृ-वाक्यम्,
सुतोऽमारय - वर्षस्तदा स्वयंमाणः।
स तत्काल एवाऽगमद् राज-सौधम्,
विना मातर मातृ-भक्तोऽपि नात्ति ॥

(२५)

स राजानमेत्याऽवदत् सर्व-वृत्तम्,
गजेन्द्रं समासीनमुच्चैः प्रदेशे।
सुसिंहासने विष्णुवत् सद्विराजे,
यतीनामसाह्य - प्रवृत्ति जयेन्द्रे ॥

(२६)

जयेन्द्रस्य मल्लोत्तरस्य प्रवृत्तिम्,
यतीनां गुरौ चापि राज्ञः पुरस्तात्।
निवेद्यावदद् गौरव स्वस्य गुर्वोः,
स्व-मातुश्च तस्या गुरोः [illegible] ॥

(२१)

“पुत्रवत्सले माँ ! आज पुत्र पर क्यों रुष्ट है ? मैंने आपका क्या अपराध किया है? आज मेरे साथ भोजन क्यों नहीं करती ? माँ ! मैं कारण जानना चाहता हूँ।”

(२२)

जब पुत्र ने कारण जानने का बहुत आग्रह किया तो माँ बोली—मेरे पूज्य गुरु श्मशान में निवास कर रहे हैं। न अन्न-जल—आशीर्वाद मिला और न ही कोई स्थिति है।

(२३)

मेरे गुरु को आहार, पानी प्राप्त नहीं है, नगर के बाहर श्मशानभूमि में उनका वास है, ऐसी स्थिति में पुत्र ! मैं घर में सुख से बैठी भोजन कैसे करूँ ?

(२४)

माँ के शोकाकुल हृदय से निकले वचन सुनकर दीवान तत्काल, शीघ्र राज-भवन में गया। मातृ-भक्त पुत्र माँ के बिना कैसे भोजन करता।

(२५)

दीवान उच्च स्थान में अवस्थित सुन्दर सिंहासन पर भगवान् विष्णु की तरह विराजित महाराज गजसिंह जी के सामने उपस्थित हुआ और उसने सारी घटना, आचार्य श्री जयमल्लजी के साथ यतियों का दुर्व्यवहार महाराजा को निवेदित किया।

(२६)

यतियों के गुरु के साथ आचार्य श्री जयमल्लजी ने जो सद्व्यवहार किया, वह बतलाते हुए दीवान ने आचार्यवर के तथा अपनी माँ के गरिमामय व्यक्तित्व एवं सद्गुणों की प्रशंसात्मक चर्चा की।

(२७)

गुणान् वर्णयन्नाह राज्येऽस्मदीये,
मदोद्दण्ड महात्मा जगद्-वन्दनीयः ।
निषिद्धो भवेच्चेत्तदास्माकमेव,
सुदौर्बल्य-कुख्याति-पापान्यपि स्युः ॥

(२८)

समाकर्ण्य राजा यतीनां कुकृत्यम्,
सदाऽऽहूय तान् भर्त्सयन् भूरि भूरि ।
नृपाज्ञां प्रसार्याऽब्रवीद् राजवर्यान्,
नरान् स्वागतार्थं जयस्योदयस्य ॥

(२९-३०)

तदा सर्व-पौरा महान्तोऽधिकार-
प्रयोगे नियुक्ता अमात्यादयश्च ।
सुगीतानि गायन्त उल्लास-युक्ताः,
जयस्यैव घोषेण मल्ल-प्रपूर्वम् ॥
जय गौरवेणोच्च - सम्मान - युक्तम्,
समारोह - सत्कार - पूर्णाद्भुतेन ।
प्रकारेण नोद्भूत - पूर्वेण हर्षात्,
प्रफुल्ला समानिन्युरेन सुपुर्य्याम् ॥

(३१)

बिकानेर - मध्ये सहर्षं प्रवेशम्,
पदाब्जार्पणं चैव मार्गे तदीये ।
नृपः कारयामास सिंहो गजादिः,
स्वभूद् हर्ष- वर्षा मनःसूत्तमानाम् ॥

(३२)

तदाऽमात्य-माता सुशीला सुभिक्षाम्,
स्वकाभ्यां कराभ्यां समर्प्यैव सम्यक् ।
गुरुभ्यः समासन्य तुष्टि सुतेन,
सहान्नं जय सा गृहीत्वा प्रहृष्टा ॥

(२७)

आगे निवेदन किया — यदि हमारे राज्य में ऐसे लोकपूज्य महापुरुष का प्रवेश कोई रोके तो यह हमारी दुर्बलता का सूचक है। इसमें राज्य का अपयश है और यह पाप-कार्य है।

(२८)

राजा ने यतियों का दुर्जनतापूर्ण व्यवहार सुनकर उन्हें अपने पास बुलाया, अत्यधिक भर्त्सना की—उन्हें बुरी तरह लताड़ा। राजाज्ञा प्रसारित की राज्याधिकारियों से कहा—सब लोग आचार्य श्री जयमल्लजी के स्वागतार्थ जाएँ—उन्हें स्वागतपूर्वक नगर में लाए।

(२९-३०)

तब सभी नागरिक, विशिष्टजन, राज्याधिकारी, दीवान आदि उच्च पदासीन व्यक्ति प्रसन्नता से धार्मिक भजन गाते हुए, आचार्य श्री जयमल्लजी का जय-घोष करते हुए, हर्ष से प्रफुल्लित हो गरिमा, उच्च सम्मान, आनन्दोत्साह तथा समादर सहित अभूतपूर्व समारोह के साथ आचार्य प्रवर को नगर में लाये।

(३१)

महाराजा गजसिंह ने आचार्य प्रवर श्री जयमल्लजी का बीकानेर-नगर में सहर्ष प्रवेश करवाया। आचार्यवर के चरण-चिह्नों से राजमार्ग सुशोभित हो उठा। उत्तम भावना एवं श्रद्धाशील जनों के मन में मानो आनन्द की वर्षा होने लगी।

(३२)

दीवान की धर्मिष्ठा माँ ने अपने हाथों से गुरुवर को विधिवत् भिक्षा दी। उसे परितोष हुआ। फिर उसने अपने पुत्र के साथ प्रसन्नतापूर्वक भोजन किया।

(३३)

सुपूज्य-श्रियः श्रीजयस्यात्र पुर्याम्,
सुवाक्यामृत-स्रोत आनन्दकारि ।
प्रगल्भ प्रमल्लावहत् सत्स्वनेकान्,
जनान् प्लावयामास नित्यं सुखाब्धौ ॥

(३४)

ततः केचिदाचार्य-वर्यं समेत्य,
स्व-धर्मं चरिष्याम इत्यानताशाः ।
पर - श्रद्धया शीलवाना भवन्त,
समुत्साहिनस्ते प्रतिज्ञामकुर्वन् ॥

(३५)

बीकानेरराजः स्वयं तेन साकम्,
सुसम्पर्कमास्थाप्य सद्धर्म-चर्चाम् ।
अकुर्वन् गुरुत्व विवेकेन युक्तम्,
अबुध्यन्त परां शान्तिमाप्याऽऽत्मनो स ॥

(३६)

अथ साधुरित्थं विकानेर-राज्ये,
सताकामपूर्वी सुखं स्थानकेष्वु ।
समापुष्क - नाम्ना मुनीना सहर्षम्,
सुसम्पन्नदायस्य दीप्रयतं स्म ॥

(३७)

सत पूर्वमत्र प्रयोग न कश्चित्,
अकार्षु समर्पाऽभवत् साधुदेनम् ।
अत: श्रेष्ठ एतद्दृश्यमेतोऽरतनम्य,
महामोदमं श्रीअरविन्द मुनीन्द्रम् ॥

(३३)

बीकानेर में पूज्य प्रवर श्री जयमलजी की आनन्दमयी उपदेश-वाणी का स्रोत उत्साह एवं ओज के साथ नित्य बहने लगा। अनेक जन उससे अनुप्राणित हो ऐसा अनुभव करते, मानो वे आनन्द के सागर में गोते लगा रहे हों।

(३४)

संप्रेरित हो कई मनुष्य आचार्यवर की सेवा में उपस्थित हुए। नम्रता से नेत्र नीचे किये, मनमें अत्यधिक उत्साह लिये शिष्टतापूर्वक उन्होंने अपनी भावना निवेदित की—वे आत्मोन्मुख चर्या में गतिशील रहना चाहते हैं—धार्मिक जीवन स्वीकार करना चाहते हैं।

यों यह उन्होंने आचार्यवर से अपनी भावना के अनुरूप व्रत स्वीकार किये।

(३५)

बीकानेर-नरेश गजसिंहजी भी आचार्यवर के सम्पर्क में आते, धर्म-चर्चा करते, विवेक पूर्वक तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करते और मन में अत्यन्त शान्ति—आनन्द का अनुभव करते।

(३६)

इस प्रकार श्री जयमलजी महाराज ने सानन्द, सहर्ष स्थानकवासी मुनिगण तथा धर्म-संघ का बीकानेर राज्य में सर्वप्रथम धर्म-ध्वज पहराया।

(३७)

उससे पूर्व कोई भी साधु वहाँ यों प्रवेश पाने में सफल नहीं हो सका था। यह विजय-वैजयन्ती पहराने का ऐतिहासिक श्रेय श्री जयमलजी महाराज को ही है।

(३८)

सहस्राणि शिष्यानुगा गुणार्थं,
जयेन्द्रस्य सङ्गेन गुणज्ञ्यानाः ।
सदाचार-शीलान्विताः सत्त्वभावाः,
स्व धर्मोन्नति-निष्ठा भजन्तो बभूवुः ॥

(३९)

जयस्याऽभयो भक्त आसीन्नरेशः
ससाज्जोधपुर्यास्तथा सद्गुरोश्च ।
गुरूज्यभिंयो भूधरस्यापि भक्तः,
स ताभ्यां प्रभावान्वितोऽभूदजस्रम् ॥

(४०)

यदाऽथैकदा श्रीजयो राजते स्म,
सुपीपाड-मध्ये तदा जोधपुर्याः
पतिर्दर्शनं तस्य कर्तुं समिच्छु
स्वमात्यं सुधीरत्नसिंह नुनोद ॥

(४१)

स गत्वा महा महाऽऽचार्य-पार्श्वं नृपस्य,
सदिच्छा पदाब्जे गुरोः सन्निवेद्य ।
समभ्यर्थनां जोधपुर्यां रजांसि,
पुनीतानि कर्तुं मुहुः सञ्चकार ॥

(४२)

यदेवं नृपेणाऽभिसम्प्रार्थ्यमानः,
मुहुर्दर्शनेच्छावता श्रीजयेन्द्रः ।
मनुष्याक्षिकञ्जैः सुसम्पूज्यमानः,
बृहज्जोधपुर्यां पदाब्जे न्यधात् सः ॥

(३८)

श्री जयमल्लजी महाराज के सत्संग से बीकानेर में हजारों सम्यानुरागी नर-नारियों ने सत् श्रद्धा स्वीकार की। वे सदाचार एवं संयममूलक व्रताराधक तथा अध्यात्म-धर्म में निष्ठाशील हुए।

(३९)

जोधपुर के महाराजा श्री अभयसिंहजी श्री जयमल्लजी महाराज तथा उनके स्वर्गीय गुरुवर पूज्य श्री भूधरजी महाराज के भक्त थे। महाराजा उन दोनों से सदा प्रभावित रहे।

(४०)

एक बार श्री जयमल्लजी महाराज पीपाड़ में विराजित थे। जोधपुर-नरेश के मन में उनके दर्शन की भावना जगी। उन्होंने अपने सुयोग्य मन्त्री रत्नसिंह को अपनी भावना निवेदित करने महाराजश्री की सेवा में पीपाड़ भेजा।

(४१)

मन्त्री महान् धर्माचार्य श्री जयमल्ली महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने गुरुवर के चरण-कमलों में महाराजा की भावना उपस्थित करते हुए पावन पदार्पण से जोधपुर की भूमि को पवित्र करने की बार-बार प्रार्थना की।

(४२)

दर्शन के लिए उत्सुक जोधपुर-नरेश की ओर से यों पुन-पुन. प्रार्थना किये जाने पर आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज जोधपुर पधारे। जन-जन की आँखों में उनके प्रति श्रद्धा तथा आदर भरा था।

(४४ ४५)

[illegible] [illegible] [illegible]-
[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] - [illegible] - [illegible],
[illegible] - [illegible] राजवीरो ॥
[illegible] [illegible] - [illegible],
[illegible] - [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] - [illegible] - हीन - [illegible] ॥
महासंयोग - [illegible] - [illegible] [illegible],
महाराज - [illegible] - कन्ये [illegible] ।
महोत्साह - पूर्ण [illegible] - गर्वे,
पुरो राज्य - सिंहासनं [illegible] ॥

(४६)

पुरो. शास्त्र - पूत गुरुकृपा प्रमाणे,
सनाथीहर्षं भावन - पीयूष - गर्भम् ।
गुह्योपदेशं समाकर्ण्य भूपः,
महानन्द - सन्दोह - सम्बभूव ॥

(४७)

यदाऽसौ शशाङ्काङ्क - धारिबन्दु - वर्षे,
ययौ राजधानी मुगलमान - जुष्टाम् ।
तदत्राऽपि राजाऽभयो जोधपुर्याः,
स्व - मित्रैर्नरेशैर्ह्यरेनमागात् ॥

(४८)

विधायाऽत्र पूज्यश्रियो दर्शनानि,
नृपालास्तु सप्ताऽपि सश्रुत्य वाचम् ।
मुहुः प्रार्थितस्याद्रि - राजस्य गङ्गा-
मिवाऽखण्ड - नादां समस्ताधिमासु ॥

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

भगवान् गुणगौरवेण मधुरम्,
स उदार-मना [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible],
महिमा [illegible] ॥

पंचम स्तबक

(१)

मुनिवर श्री जयमल्लजी महाराज के वचन देव-सदृश भावयुक्त एवं आनन्दप्रद थे। उनमें लोक-मानस को आकृष्ट करने की शक्ति थी। वे हृदयगत अज्ञान को मिटाने में सूर्य के समान ज्योतिर्मान् थे।

[इस स्तबक में यहाँ से ५०वें पद्य तक तोटक छन्द है। तोटक में चार सगण होते हैं।[1]]

(२-३)

गुरुवर का उत्तम उपदेश रूपी सूर्य जहाँ गुणवान् पुरुषों का हित साधता था, विज्ञजन, नृपगण तथा प्रज्ञाशील मनुष्यों के अन्तस्तल का संस्पर्श करता था, वहाँ साथ ही साथ साधारण मानव-समुदाय, बालक, युवा, वृद्ध—सभी के श्रवण-गोचर होता हुआ उन्हें धर्ममय शुभ पथ पर गतिशील रहने की प्रेरणा देता था।

(४)

जो कोई उदारचेता सज्जन गुरुवर का उपदेश सुनता, वह सहज ही प्रेरित हो, प्रसन्नतापूर्वक मांस, मदिरा का त्याग कर देता तथा व्रतमय जीवन अपना लेता।

(५-६)

बहु - भूपतयस्त्वभवन् भवतः
जयमल्ल - गुरोः मुनि-भक्त-वराः ।
उपदेशममुष्य दिविन्द्रिय-गो—
चरमादरतो हृदयङ्गमितम् ॥

सुविधाय गुरोरनुयायिन उच्च—
विचार-रता सुबभूवरिमे ।
सुख-साधन - मानस - मातिशय,
सुख-यच्छ-नृ - नायँ इतोऽप्यजयन् ॥

(७)

गुलमम्य-वच - श्रवणेन मन
स्थितमाकुरुते रम च पोकरणा—
धिप-ठाकुर - देवकिशिह इमम्,
सुखदं कलयान मृगयां व्यजहात् ॥

(८)

गुरुदेव - जयमल्ल-हीनतया,
तपसाऽत्रिम - साधन - पद्धति-युत ।
जिन-मर्क - कषाय - निरस्त - मन.,
जयमल्ल उदार - चरित्र उदेत् ॥

(९)

[illegible] गुणोत्कर [illegible],
[illegible] भक्ति [illegible]
[illegible] [illegible] ।
[illegible] - [illegible] - [illegible] ॥

(५-६)

बहुत से राजा-महाराजा मुनिवर श्री जयमल्लजी के श्रद्धालु भक्त थे, जो उनका उपदेश बड़े आदर से सुनते थे, हृदयङ्गम करते थे, तदनुसार चलते थे। उनके विचारों मे, जीवन में स्वत: ऊँचापन आगया। गुरुवर के उपदेश की यह विशेषता थी; बच्चे, जवान, बूढ़े— जो भी उसे सुनते, उनमें इतना आत्म-बल जागता कि वे अपने मन को जीतने मे सफल हो जाते। विजित या वशगत मन ही तो सुख का साधन है।

(७)

एक बार की घटना है, पोकरण के ठाकुर देवीसिंहजी ने पूजनीय महाराजश्री के वचनामृत का पान—श्रवण किया, उसे हृद्गत किया—उस पर मनन किया और कभी शिकार न करने की प्रतिज्ञा स्वीकार की।

(८)

गुरुवर श्री जयमल्लजी महाराज छल-कपट से सर्वथा अछूते थे। तप द्वारा उन्होंने शम, दम, तितिक्षा, संवेग, निर्वेद आदि आत्मोत्थानकारी साधनों को स्वायत्त कर लिया था। फलत: वे काम, क्रोध, लोभ मद, मोह तथा मत्सर आदि कुत्सित वृत्तियों पर विजय पा चुके थे। वे कलुषित भावरूप मल से सर्वथा विरहित थे। उनका चारित्र्य निर्मल एवं उत्तम था।

(९)

महाराजश्री के तप पूत व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि अनेक सज्जन उनके श्रद्धालु भक्त हो गये, जो तन्मयतापूर्वक उनके वचनामृत का पान करते, दर्शन का लाभ लेते और पाप-क्षय करते।

(१०-११)

शुभ-देवगढस्य ठुठाकुरजी,
यशवन्त - पदोत्तर - राव-सुतः
रुपजी-पद - भूषित - ठाकुरजी,
भुवि देवलवाटगढस्य पति ॥

इमकौ गुरु-भक्ति - युताबुभकौ,
जयमल्ल - पदाम्बुज - दर्शनतः ।
अधिगम्य सुखं सकलं जगतः,
परमार्थ - सुखमगिनयताम् ॥

(१२-१४)

जयमल्ल - महामुनयः परम—
[illegible] - सुदर्शनदृक् ।
यत आगम[illegible] एव गुणम्—
[illegible] - मतम् ॥
[illegible] उत्तंगुर गति,
[illegible] तत ।
[illegible] - [illegible] - नरान् सुधीन्,
[illegible] ॥
[illegible],
[illegible] ।
[illegible] —
[illegible] ॥

(१५)

[illegible]

(१०-११)

देवगढ़ के ठाकुर श्री जसवन्तरायजी तथा देलवाड़ा के राव साहब श्री रघुजी—दोनों महाराज श्री के परम भक्त थे। वे गुरुवर के चरण-कमलों के दर्शन तथा सान्निध्य का लाभ लेते हुए, आनन्दमय जीवन जीते हुए पारमार्थिक—आध्यात्मिक चिन्तन में अपने समय का सदुपयोग करते थे।

(१२-१४)

आत्म-द्रष्टा, आध्यात्मिक वैभव के धनी, महान साधक श्री जयमल्लजी महाराज जहाँ भी पधारते, सद्ज्ञानमय, अति उत्तम सुरभि (ऊपर, नीचे—विशिष्ट, साधारण—सभी जनों में बिखेरते। जन-जन में समता का भाव उदित होता।

उन्होंने अपने उपदेश द्वारा अनेक उच्च पदासीन पुरुषों तथा राजाओं को आत्मानन्द-धर्म से अनुप्राणित, आत्म-निष्ठ, उत्तमोत्तम कर्मों में संलग्न बनाया। उन्हें अभय—स्वयं भय न मानने तथा दूसरों को भय न उपजाने का सन्देश दिया। वे गुरुवर्य के प्रति श्रद्धाभिनत होते हुए अन्तश्चिन्तन में, चिर आनन्द स्वरूप अनन्त—शाश्वत सुख की अनुभूति करने लगे।

(१५)

जो भी साधक गुरुवर के चरणों में आते, वे यथार्थ रूप के चिन्तन द्वारा कषायमुक्त शुद्ध धर्म के आचरण में स्थित होकर आनन्दमय जीवन जीने लगते। उनके जीवन में परिवर्तन का संचार हुआ।

(१०-११)

शुभ-देवगढस्य सुठाकुरजी,
यशवन्त - पदोत्तर - राय-युतः
रघुजी-पद - भूषित - ठाकुरजी,
भुवि देवलवाटगढस्य पति ॥

इमकौ गुरु-भक्ति - युतावुभकौ,
जयमल्ल - पदाम्बुज - दर्शनतः।
अधिगम्य सुखं सकलं जगतः,
परमार्थ - सुतत्त्वमचिन्तयताम् ॥

(१२-१४)

जयमल्ल - महापुरुषः परम—
श्रिममादधदात्म - सुदर्शनकृत् ।
यत आगतवास्तत एव गुणज्ञ—
मनुशासमात्म-सुबोध - भयम् ॥

विकिरन्नित ऊर्ध्वमुतः परित,
जनता समतामुपलभ्य ततः।
उपगम्य - पदोत्तम - नरान् नृपतीन्,
निज-धर्म-रतान् स्व-पद -प्रणतान् ॥

अकरोन्निज आत्मनि निष्ठधियः,
शुभ - कर्म - सुधर्म - मतीनभयान् ।
हृदय-स्थित - सच्चिदनन्त - सुखा—
नुभवार्जित- सर्व-शिव - प्रभवान् ॥

(१५)

परमार्थ - गुणत्व - विचार - परा,
गुणिना गुरुदेव - गुणज्ञमिता:।
अनुरागवन - शुद्ध - सुधर्म - रता,
स्पन्दन शुभ - चित - गता अभवन् ॥

(१६)

मुनिवर श्री जयमल्लजी अपने समय के सुयोग्य मुनियो तथा महान् कवियो मे अग्रगण्य थे। वे मनोविजेता, यशस्वी आध्यात्मिक योद्धा थे। उनके समान तब कोई विरला ही होगा।

(१७-१८)

मुनिश्री जयमल्लजी की वर्चस्विता की ही यह गरिमा थी कि विक्रम सवत् १८०५ में जमदग्नि-ऋषि-पुत्र परशुराम की जन्म-तिथि अक्षयतृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन सभी श्रमणों ने जोधपुर मे उन्हें, जन-मान्य, जगद्गुरु-स्वरूप, चतुर्विध सघ सम्मत, निर्मल, उत्तम तथा उच्च आचार्य-पद समर्पित किया। उन्हें अधिगत कर मानो आचार्य-पद स्वयं अलकृत हुआ।

(१९)

आचार्य श्री जयमल्लजी अपने अनेकानेक विशिष्ट गुणों के कारण जैन जगत् मे सूर्य के सदृश देदीप्यमान थे। उनके नाम पर जयगच्छ नामक धार्मिक आम्नाय प्रकाश मे आया, जो अध्यात्म-साधकों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ।

(२०)

संघाधिपति श्री जयमल्लजी ने अर्ध-शताब्दी—पचास वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया। इस अवधि के बीच उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर, एक गाँव से दूसरे गाँव पद-यात्रा करते हुए, जगत् मे जैन-साधना-पद्धति का प्रसार करते हुए अपना जीवन सफल बनाया।

(२१)

आचार्यवर श्री जयमल्लजी की प्रकृति अत्यन्त सरल थी। वे सदा सत्य, हितकर एवं परिमित भाषण करते थे। उन्होंने भय या लोभ के वश हो कभी असत्य-भाषण नहीं किया।

(१६)

स्व - युगे श्रम - कालिक - योग्य - मुनि-
प्रवरेषु महाकविषु प्रतिभा-
प्रतिपन्न - मनः - सुजयो विजयी,
प्रतिमल्ल इवोर्जित - कीर्तिरभूत् ॥

(१७-१८)

इषु - शून्य - वसु - द्विजराज - समे,
शुभ - विक्रम - वत्सर एव महा-
जमदग्नि - मुनस्य सुजन्म - तिथौ,
अधिजोधपुरं विमलं प्रवरम् ॥
निज - वर्षण एव महत्त्वमिदम्,
यदसौ गण - सम्मत - पूज्य - पदम् ।
जन - मान्य - जगद्गुरु - रूपमयम्,
समगाऽखिलमुख्यमलङ्कृतवान् ॥

(१९)

न गणी स्व - विशिष्ट - गुणैर्बहुभिः,
[illegible] विनाऽऽश्रय - मे ।
स एव हि सद्गणिनः सुवरः,
स्व - गच्छ - गणाधिप - मार्ग उदैत् ॥

(२०)

[illegible] - समा [illegible]
[illegible] जग [illegible] ।
[illegible] विभवन् [illegible],
[illegible] ॥

(२१)

[illegible] - [illegible],
[illegible] ।
[illegible] - [illegible] - [illegible],
[illegible] ॥

(१६)

मुनिवर श्री जयमल्लजी अपने समय के सुयोग्य मुनियों तथा महान् ऋषियों में अग्रगण्य थे। वे मनोविजेता, यशस्वी आध्यात्मिक योद्धा थे। उनके समान तब कोई विरला ही होगा।

(१७-१८)

मुनिश्री जयमल्लजी की सर्वप्रियता की ही यह गरिमा थी कि विक्रम संवत् १८०५ में जमदग्नि-ऋषि-पुत्र परशुराम की जन्म-तिथि अक्षयतृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन सभी श्रमणों ने जोधपुर में उन्हें, जन-मान्य, जगद्गुरु-स्वरूप, चतुर्विध संघ-सम्मत, निर्मल, उत्तम तथा उच्च आचार्य-पद समर्पित किया। उन्हें अधिगत कर मानो आचार्य-पद स्वयं अलंकृत हुआ।

(१९)

आचार्य श्री जयमल्लजी अपने अनेकानेक विशिष्ट गुणों के कारण जैन जगत् में सूर्य के सदृश देदीप्यमान थे। उनके नाम पर जयगच्छ नामक धार्मिक आम्नाय प्रकाश में आया, जो अध्यात्म-साधकों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ।

(२०)

धर्माधिपति श्री जयमल्लजी ने अर्ध-शताब्दी—पचास वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया। इस अवधि के बीच उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर, एक गाँव से दूसरे गाँव पद-यात्रा करते हुए, जगत् में जैन-साधना-पद्धति का प्रचार करते हुए अपना जीवन सफल बनाया।

(२१)

आचार्यवर श्री जयमल्लजी की प्रकृति अत्यन्त शान्त थी। वे सदा सत्य, हितकर एवं परिमित भाषण करते थे; उन्होंने मद या क्रोध के वश हो कभी अपशब्द-प्रयोग नहीं किया।

(१६)

स्व - युगे सम - कालिक - योग्य - मुनि-
प्रवरेषु महाकविषु प्रतिभा-
प्रतिपन्न - मनः - सुजयो विजयी,
प्रतिमल्ल इवोर्जित - कीर्तिरभूत् ॥

(१७-१८)

इषु - शून्य - वसु - द्विजराज - तमे,
शुभ - विक्रम - वत्सर एव महा-
जमदग्नि - सुतस्य सुजन्म - तिथौ,
अधिजोधपुरं विमलं प्रवरम् ॥

निज - वर्चस एव महत्त्वमिदम्,
यदसौ गण - सम्मत - पूज्य - पदम् ।
जन - मान्य - जगद्गुरु - रूपमयम्,
श्रमणार्पितमुच्चमलङ्कृतवान् ॥

(१९)

स गणी स्व - विशिष्ट - गुणैर्बहुभिः,
रविवत्तपति स्म जिनाऽऽश्रय - भे ।
अत एव हि तद्गणिनः सुखद,
जय - गच्छ - पदाभिध - मार्ग उदेत ॥

(२०)

गगनार्धं - समा गणिन गणदम्,
समलङ्कुरुते स्म जय. प्रवर. ।
नगरान्नगर विचरन् गणा,
भुवि जैन - पथ प्रथयञ्छुभे ॥

(२१)

[illegible] - गुरो [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] विषयम् ।
[illegible] भय - लोभ - [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

(१६)

मुनिवर श्री जयमल्लजी अपने समय के सुयोग्य मुनियों तथा महान् कवियों में अग्रगण्य थे। वे मनोविजेता, यशस्वी आध्यात्मिक योद्धा थे। उनके समान तब कोई विरला ही होगा।

(१७-१८)

मुनिश्री जयमल्लजी की वर्चस्विता की ही यह गरिमा थी कि विक्रम सवत् १८०५ में जमदग्नि-ऋषि-पुत्र परशुराम की जन्म-तिथि अक्षयतृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन सभी श्रमणों ने जोधपुर में उन्हें, जन-मान्य, जगद्गुरु-स्वरूप, चतुर्विध संघ-सम्मत, निर्मल, उत्तम तथा उच्च आचार्य-पद समर्पित किया। उन्हें अधिगत कर मानो आचार्य-पद स्वयं अलंकृत हुआ।

(१९)

आचार्य श्री जयमल्लजी अपने अनेकानेक विशिष्ट गुणों के कारण जैन जगत् में सूर्य के सदृश देदीप्यमान थे। उनके नाम पर जयगच्छ संज्ञक धार्मिक आम्नाय प्रकाश में आया, जो अध्यात्म-साधकों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ।

(२०)

संघाधिपति श्री जयमल्लजी ने अर्ध-शताब्दी—पचास वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया। इस अवधि के बीच उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर, एक गाँव से दूसरे गाँव पद-यात्रा करते हुए, जगत् में जैन-साधना-पद्धति का प्रसार करते हुए अपना जीवन सफल बनाया।

(२१)

आचार्यवर श्री जयमल्लजी की प्रकृति अत्यन्त सरल थी। वे सदा सत्य, हितकर एवं परिमित भाषण करते थे। उन्होंने भय या लोभ के वश हो कभी असत्य-भाषण नहीं किया।

(१६)

स्व - युगे सम - कालिक - योग्य - मुनि-
प्रवरेषु महाकविषु प्रतिभा-
प्रतिपन्न - मनः - सुजयो विजयी,
प्रतिमल्ल इवोर्जित - कीर्तिरभूत् ॥

(१७-१८)

इषु - शून्य - वसु - द्विजराज - तमे,
शुभ - विक्रम - वत्सर एव महा-
जमदग्नि - सुतस्य सुजन्म - तिथौ,
अधिजोधपुरं विमलं प्रवरम् ॥
निज - वर्चस एव महत्त्वमिदम्,
यदसौ गण - सम्मत - पूज्य - पदम् ।
जन - मान्य - जगद्गुरु - रूपमयम्,
श्रमणार्पितमुच्चमलङ्कृतवान् ॥

(१९)

स गणी स्व - विशिष्ट - गुणैर्बहुलैः,
रविवत्तपति स्म जिनाऽऽश्रय - खे ।
अत एव हि तद्गणिनः सुखदः,
जय - गच्छ - पदाभिध - मार्ग उदैत ॥

(२०)

शतकाऽर्धं - समाः गणिनः सुपदम्,
समलङ्कुरुते स्म जयः प्रवरः ।
नगरान्नगरं विचरन् गणपः,
भुवि जैन - पथं प्रथयञ्छुभे ॥

(२१)

महनिर्जयमल्ल - गुरोः परमा,
गरिमा प्रभवद् वचनं वितथम् ।
न कदाप्यभवद् भय - लोभ - वशात्,
स्मित-वाक् मित-वाक् स बभूव सदा ॥

(१६)

मुनिवर श्री जयमल्लजी अपने समय के सुयोग्य मुनियों तथा महान् कवियों में अग्रगण्य थे। वे मनोविजेता, यशस्वी आध्यात्मिक योद्धा थे। उनके समान तब कोई विरला ही होगा।

(१७-१८)

मुनिश्री जयमल्लजी की वर्चस्विता की ही यह गरिमा थी कि विक्रम संवत् १८०५ में जमदग्नि-ऋषि-पुत्र परशुराम की जन्म-तिथि अक्षयतृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन सभी श्रमणों ने जोधपुर में उन्हें, जन-मान्य, जगद्गुरु-स्वरूप, चतुर्विध संघ-सम्मत, निर्मल, उत्तम तथा उच्च आचार्य-पद समर्पित किया। उन्हें अधिगत कर मानो आचार्य-पद स्वयं अलंकृत हुआ।

(१९)

आचार्य श्री जयमल्लजी अपने अनेकानेक विशिष्ट गुणों के कारण जैन जगत् में सूर्य के सदृश देदीप्यमान थे। उनके नाम पर जयगच्छ नामक धार्मिक आम्नाय प्रकाश में आया, जो अध्यात्म-साधकों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ।

(२०)

संघाधिपति श्री जयमल्लजी ने अर्ध-शताब्दी—पचास वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया। इस अवधि के बीच उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर, एक गाँव से दूसरे गाँव पद-यात्रा करते हुए, जगत् में जैन-साधना-पद्धति का प्रसार करते हुए अपना जीवन सफल बनाया।

(२१)

आचार्यवर श्री जयमल्लजी की प्रकृति अत्यन्त सरल थी। वे सदा सत्य, हितकर एवं परिमित भाषण करते थे। उन्होंने भय या लोभ के वश हो कभी असत्य-भाषण नहीं किया।

(१६)

स्व - युगे शम - कालिक - योग्य - मुनि-
प्रवरेषु महाकविषु प्रतिभा-
प्रतिपन्न - मनः - गुजयो विजयी,
प्रतिमल्ल इवोर्जित - कीर्तिरभूत् ॥

(१७-१८)

इषु - शून्य - यमु - द्विजराज - तमे,
शुभ - विक्रम - वत्सर एव महा-
जमदग्नि - सुतस्य सुजन्म - तिथौ,
अधिजोधपुरं विमलं प्रवरम् ॥
निज - धर्मस एव महत्त्वमिदम्,
यदसौ गण - सम्मत - पूज्य - पदम् ।
जन - मान्य - जगद्गुरु - रूपमयम्,
श्रमणार्पितमुच्चमलङ्कृतवान् ॥

(१९)

स गणी स्व - विशिष्ट - गुणैर्बहुलैः,
रविवत्तपति स्म जिनाऽऽश्रय - से ।
अत एव हि तद्गणिनः सुखदः,
जय - गच्छ - पदाभिध - मार्ग उदैत ॥

(२०)

शतकाऽर्ध - समा. गणिनः सुपदम्,
समलङ्कुरुते स्म जयः प्रवरः ।
नगरान्नगरं विचरन् गणपः,
भुवि जैन - पथं प्रथयञ्छुभे ॥

(२१)

प्रकृतिर्जयमल्ल - गुरोः परमा,
सरला समभूद् वचनं वितथम् ।
न कदाऽप्यवदद् भय - लोभ - वशात्,
वाङ् मित-वाक् स बभव सदा ॥

(१६)

मुनिवर श्री जयमल्लजी अपने समय के सुयोग्य मुनियों तथा महान् कवियों में अग्रगण्य थे। वे मनोविजेता, यशस्वी आध्यात्मिक योद्धा थे। उनके समान तब कोई विरला ही होगा।

(१७-१८)

मुनिश्री जयमल्लजी की वर्चस्विता की ही यह गरिमा थी कि विक्रम संवत् १८०५ में जमदग्नि-ऋषि-पुत्र परशुराम की जन्म-तिथि अक्षयतृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन सभी श्रमणों ने जोधपुर में उन्हें, जन-मान्य, जगद्गुरु-स्वरूप, चतुर्विध संघ-सम्मत, निर्मल, उत्तम तथा उच्च आचार्य-पद समर्पित किया। उन्हें अधिगत कर मानो आचार्य-पद स्वयं अलंकृत हुआ।

(१९)

आचार्य श्री जयमल्लजी अपने अनेकानेक विशिष्ट गुणों के कारण जैन जगत् में सूर्य के सदृश देदीप्यमान थे। उनके नाम पर जयगच्छ संज्ञक धार्मिक आम्नाय प्रकाश में आया, जो अध्यात्म-साधकों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ।

(२०)

संघाधिपति श्री जयमल्लजी ने अर्ध-शताब्दी—पचास वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया। इस अवधि के बीच उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर, एक गाँव से दूसरे गाँव पद-यात्रा करते हुए, जगत् में जैन-साधना-पद्धति का प्रसार करते हुए अपना जीवन सफल बनाया।

(२१)

आचार्यवर श्री जयमल्लजी की प्रकृति अत्यन्त सरल थी। वे सदा सत्य, हितकर एवं परिमित भाषण करते थे। उन्होंने भय या लोभ के वश हो कभी असत्य-भाषण नहीं किया।

[illegible]

(२६-२८)

[illegible]

[illegible] कुशलस्य तथा,
कुशलो [illegible] वदन् ।
धन-हीनतयाऽऽस [illegible],
विदितः स इह स्वयमागतवान् ॥

कुशलस्य समीपमुपेत्य गता,
प्रविलोक्य च तस्य दशां दुरिताम् ।
अपि तं सुत-दार - पृथक्-दापितम्,
बहु दुःखमवाप दयालुगुरुः ॥

(२२)

एक बार की बात है, महाराजश्री अपनी जन्म-भूमि पधारे। वहाँ कुशलोजी नामक उनका बाल्यावस्था का एक गृहस्थ मित्र था। वे उससे मिले, उसका कुशल-क्षेम पूछा और उसे धर्मोपासना की प्रेरणा दी—उससे कहा, कुछ धर्म-ध्यान भी किया करो।

(२३-२४)

कुशलोजी ने महामहिम आचार्यवर श्री जयमल्लजी से हँसते हुए कहा—महाराजश्री! आप तो साधु हैं। भिक्षा मांगकर पेट भर लेते हैं। मैं तो एक गृहस्थ हूँ। स्वयं धन अर्जित कर मुझे अपने परिवार का भरण-पोषण करना होता है, पुत्र-पुत्रियों के विवाह आदि कार्य करने होते हैं। यह सब कितना बड़ा दायित्व-भार है। आपके क्या है?

(२५)

आचार्यवर ने अपने प्रिय मित्र कुशलोजी के कड़वे वचन सुन लिये। वे सम-दर्शी थे। उनके मन में जरा भी कष्ट नहीं हुआ। वस्तुत: मुनि सहजतया क्षमाशील होते ही हैं।

(२६-२८)

बहुत वर्ष बाद आचार्यवर फिर अपनी जन्म-भूमि में आये। वे परम करुणाशील थे। उन्होंने लोगों से कुशलोजी का कुशल-संवाद पूछा। लोगों ने बताया—कुशलोजी बुढ़ापे से जर्जर है। वह इतना दुर्बल हो गया है कि पैरों से चल भी नहीं सकता।

गुरुवर्य ने जब ऐसा सुना तो वे कुशलोजी से मिलने स्वयं चल पड़े, कुशलोजी के पास आये, कुशलोजी बड़ी दुर्दशा में था, वह पुत्र, स्त्री आदि से दूर फेंका हुआ सा, अलग-थलग सा पड़ा था। यह देख आचार्यप्रवर को बड़ी व्यथा हुई।

(२९)

शिर-शीर्ण-जरा-हत-सर्व-तनु,
कुशलोऽकुशल परिवर्तित-धी ।
जन सङ्गति-हीन उदग्र गुणम्,
अहह दुःखमहो महो गातम् ॥

(३०)

इति दीन-दशां परितो गुरुराट्,
अवलोक्य निशीथिगम गुरुर ।
स हि दीन-दयानुकरण गुरुः,
परिभिन्न-मना कविरादिरिव ॥

(३१)

तनया: कुशलादपहृत्य बलाद्,
गृहिणी-गृह-डाकिनि-राघ-करैः ।
अति-दूरमपावृत-गां गमिता,
दुहितृरपि-भूत-गणा अनयन् ॥

(३२)

कुशलो न कुशीलवितुं प्रभव—
त्युपगूहति केवलमात्म-कृतिम् ।
अत: एव जय: कुशलं वदति,
त्वमसि प्रिय-मित्र ! स 'उत स ऊत्' ॥

(३३)

गुरुदेव उवाच अये कुशल !
अधुना समयं तु बहु लभसे !
मुनि-सङ्गतये धृति-सन्मतये,
तरुणे वयसि त्वमभू: कृतिमान् ॥

(२९)

कुशलोजी गायो के बाडे मे पडा था। बुढापे ने उसकी सारी शक्ति छीन ली थी। वह दुःख से जीर्ण था। बुद्धि उसका साथ छोड़ चुकी थी। कोई व्यक्ति उसके पास नहीं फटकता था। सुख नाम की वस्तु उसके पास रह नही गई थी। वह निरन्तर घोर कष्ट से पीड़ित था।

(३०)

बचपन के साथी कुशलोजी की यह दीन-दशा देखकर दीनदयालु गुरुवर का मन व्याध द्वारा क्रौञ्च का वध कर दिये जाने पर करुण क्रन्दन करती क्रौञ्ची को देख दया-द्रवित आदि कवि वाल्मीकि की तरह खिन्न हो उठा और उनके अन्तर्हृदय के दयार्द्र उद्गार सहसा शब्दों के रूप में व्यक्त हुए।

(३१)

पुत्र-वधू रूपी घर की डाकिनो ने पुत्रो को बलपूर्वक कुशलोजी से छीन कर बहुत दूर ले जाकर छिपा दिया। पुत्रियो को भी जामाता रूपी प्रेत ले गये—पुत्रियाँ अपने-अपने ससुराल चली गई।

(३२)

अब कुशलोजी कुश—घास उखाड कर लाने मे सक्षम नहीं था अर्थात् वह अपने हाथों से खेती आदि का कार्य नही कर सकता था। वह तो जीवन भर किये नि सार कर्म छिपाता हुआ-सा अपनी देह लिये पडा था।

महाराज श्री बोले—तुम तो ऊन के ऊन रह गये[1]—अज्ञान के कारण जीवन का सच्चा लाभ नहीं ले पाये।

(३३)

गुरुदेव बोले—कुशलोजी! जवानी मे तुम घर के अनेक कामों में लगे रहते थे। अब तो संतों की सगति के लिए, उनसे धर्म की, ज्ञान की बातें सुनने के लिए तुम्हारे पास बहुत सारा समय है।

---

१. छोरां ने लेगी डाकणियां, छोर्यां ने लेग्या भूत।
जयमल्ल कहे कुशलेश ने, तू रह्यो ऊन को ऊन॥

(३४)

गुरु - वाक्यमसौ कुशल- श्रुतवान्,
नयनेऽभवतां हिमशैल - शिखे।
घ-सरि - यमुने तत आवहतः
स्म वचो मुखतो न किमप्युदिम् ॥

(३५)

स ऋत-प्रिय एव बभूव महान्,
न च तस्य रुचिः प्रथिताऽनृतके।
असति प्रहरत्यसि - वाचमसौ,
शुचि - भक्ति - रुचिर्गुरुराडभवत् ॥

(३६)

भुवि जोधपुरस्य कदा चिदसौ,
गुरुरागतवान् - निज - शिष्य-युतः।
उसवाल - जनिर्महिला न्यवसत्,
अधिदुर्ग - पथ-प्रचये सदने ॥

(३७)

अति - धूर्त - कृतित्व - परायणता,
ह्यसदुक्ति - रुचिः कृपणाऽभिमता।
बहु-भाषितया छल - वाक्य - रता,
मुनि - दूषण- दृष्टि-रसाऽग्रहिका ॥

(३८)

गुरुमेत्य सदेदमवोचदसौ,
मुनयो मम गेहमुपेक्ष्य धिया।
परिमुच्य सुगोचरिमाददते,
सहदेतु गृहं मम दुर्भगकम् ॥

(३९)

गुरुरप्यवदन्निज - शिष्य - गणम्,
गमनाय तदीय - गृहेऽन्नकृते।
मुनयोऽप्यवदंश्टलमात्रमिदम्,
इयमेति गृह तु निधाय बहिः ॥

(३४)

कुशलोजी ने जब आचार्यवर का यह वाक्य सुना तो उनके नेत्र रूप गंगोत्तरी यमुनोत्तरी-हिमाद्रि-शिखरों से मानो गंगा, यमुना बह चली अर्थात् उनकी आंखों से आंसुओं की धाराएं बहने लगी, मुंह से एक शब्द भी नहीं निकल सका।

(३५)

आचार्यवर श्री जयमल्लजी सदैव सत्यनिष्ठ रहे। उनकी वृत्ति असत्य में कभी नहीं गई। इतना ही नहीं, असत्य पर वाणी रूपी तलवार का प्रहार कर वे उसे ध्वस्त कर देते थे अर्थात् वे असत्य के तीव्रतम विरोधी थे। उनके हृदय में भगवद्-भक्ति की पवित्र भावना सदा उल्लसित थी।

(३६)

एक बार आचार्यप्रवर अपने शिष्यों सहित जोधपुर पधारे। वहां ओसवाल जाति की एक महिला किले की घाटी के मार्ग में स्थित अपने घर में निवास करती थी।

(३७)

वह बड़ी चालाक, कंजूस, झूठ बोलने वाली और बकवास करने वाली थी। कपटपूर्ण बातें करने में उसे बड़ी रुचि थी। साधुओं के दोष देखने में उसे बड़ा रस आता था। वह स्वभाव से जिद्दी थी।

(३८)

गुरुवर की सेवा में आकर वह सदा यही कहती कि साधुगण जान बूझकर मेरे घर की उपेक्षा कर, उसे छोड़कर अन्य घरों से भिक्षा लेते हैं। मुझ अभागिन के घर एक बार तो भिक्षा हेतु पधारें।

(३९)

आचार्यवर ने अपने शिष्यों को भिक्षा हेतु उसके घर जाने को कहा। शिष्य बोले—गुरुवर! यह जो कह रही है, केवल छल है। जब साधु भिक्षा के लिए जाते हैं तो यह अपना घर बन्द कर बाहर चली जाती है अर्थात् यह भिक्षा देने घर मिलती

(४०-४१)

गुरुरेक - दिने स्वयमागतवान्,
परिवीक्षितुमत्र रहस्यमदः ।
महिला निज पेषण-यन्त्र मुपेत्,
जयमल्ल उवाच तदा रचनाम् ॥

इयमर्थयते यद्भ- भावनया,
सतत त्रुटितं किल यष्टिकया ।
जयमल्ल उपागत एषणया,
महिला तु पिनष्टि च यष्टिकया ॥

(४२)

जयमल्ल उदारमना परम,
स्वर्ण - मूल्य - पदार्थमपि प्रददौ ।
जय - दान - कथा नृप-हर्ष - कथाम्,
स्मृति - मार्गमुपानयते गुरुताम् ॥

(४३-४४)

यमपि प्रवरे नगरे महति,
[illegible] किल दिल्लिपुरे ।
जयमल्ल गुरो गुरुदोर्नुतरे,
कृति - दर्शनमाप्नुममुष्य मुदा ॥

बहुल [illegible] शुभ - [illegible],
[illegible] - चरित - गुणम् ।
[illegible] - शुद्ध - गुणम्,
[illegible] - [illegible] ॥

(४५)

[illegible] कीर्तनम्,
[illegible] मानम् ।
[illegible] प्रभवत् प्रभु,
[illegible] [illegible] ॥

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

(४६)

इति ताभिरुपार्थित एव गुरुः,
प्रददे स्व-करोल्लिखितं प्रपत्रम् ।
अवलोक्य समुन्नतम् ललितम्,
कथन-क्षणमेव ददौ गुरुराट् ॥

(४७)

उपलभ्य पदार्थममूल्य-निधिम्,
श्रमणी-गण-शोभन-हर्ष-सुधा—
ऽऽप्लवनाद् हृदयाम्बुज-कुड्मलकम्,
[illegible] गणस्य सदा ॥

(४८)

शत-योजन - मार्गमुपागमने,
श्रमणी यदि हस्त-लिपिं [illegible] ।
[illegible] - महो[illegible] - मणिम्,
सदृशा प्रददौ [illegible] ॥

(४९)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

(५०)

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥

(४६)

उनकी प्रार्थना पर गुरुवर ने अपने हाथ से लिखा वह ग्रन्थ अवलोकन हेतु उन्हें दिया। साध्वियों ने उसे देखा। वह उनके मन को भा गया। वे बोली—यह तो बड़ा ही सुन्दर है। आचार्यवर ने उनका भाव ताड़ लिया और तत्काल वह ग्रन्थ उन्हें दे दिया।

(४७)

उस अमूल्य निधि को प्राप्त कर साध्वियों के नेत्रों से हर्ष रूपी अमृत के आंसू टपक पड़े। उनके हृदय-कमल की कली-कली आनन्द से खिल उठी।

(४८)

यदि वैसा हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त होने की सम्भावना हो तो साधु सैकड़ों योजन का मार्ग तय कर उसे लेने पहुँच जाते हैं। कितनी विचित्र बात थी—आचार्यश्री जयमल्लजी ने औघड़ दानी भगवान् शंकर की तरह उस ग्रन्थरूप अमूल्य रत्न को बिना मांगे, केवल भावना को ताड़कर ही तत्क्षण दे डाला।

(४९)

कितना विराट् व्यक्तित्व था आचार्यवर का—कषाय रूपी विष को वे शिव की तरह निगल गये, उन्होंने समुद्र की तरह क्रोधरूपी बड़वाग्नि को पी डाला। हिमालय से प्रकट होती गंगा तथा यमुना की तरह उनके हृदय से मधुरवाणी की सरिताएँ आविर्भूत होती थीं।

(५०)

देवराज इन्द्र ने जैसे असुराधिपति वृत्र को नष्ट किया, उसी प्रकार आचार्य श्री जयमल्लजी ने दुरित कर्मों के जाल को ध्वस्त कर डाला। यज्ञाग्नि से फैलती श्रेष्ठ सुगन्धि की तरह उन द्वारा सुपालित, सुप्रतिपादित धर्म की सुरभि सर्वत्र फैल-गई। सूर्य की तरह उन्होंने अज्ञान का घोर अन्धकार हटाकर ज्ञान का दिव्य प्रकाश सुप्रसारित किया।

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(२१)

यहाँ भी [illegible]

[illegible] हो [illegible] है।

इस पद में [illegible] है।

(२२)

एक बार और—[illegible] कोई बाधा आने ही नहीं [illegible]

[illegible] करें।

□ □

[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

षष्ठ स्तबक

(१)

गुरुवर जय ! आपको जन्म देकर ग्राम लाम्बिया वास्तव मे अत्यन्त शोभित हुआ ।

महामहिम ! नि.सन्देह आप महान् थे । अपने शिष्यों के प्रति आप मे अपार वात्सल्य था । आपकी शास्त्रानुमत वाणी का यह अनुपम प्रभाव था, उसे जो भी सुनते; जन्म, बुढापा, मृत्यु आदि दुःखो से छूट जाते ।

(इस स्तवक में यहाँ से ५०वें श्लोक तक इन्दिरा छन्द है । इन्दिरा मे नगण, रगण, रगण तथा अन्त मे लघु, गुरु होते हैं ।+

(२)

आपकी यह विशेषता थी—आप गम्भीर तात्त्विक विषयों का भी अत्यन्त ग्राह्य तथा सुबोध्य शैली मे बुद्धिमत्तापूर्वक इतनी सरलता से विवेचन करते कि अल्प-बुद्धि जन भी उन्हें तत्काल समझ जाते ।

(३)

एक मुसलमान आचार्यवर श्री जयमल्लजी महाराज का परम भक्त एव श्रद्धालु था । आचार्यप्रवर ने एक दिन उसे तप, जो आध्यात्मिक उन्नति का सुगम साधन है, के सम्बन्ध मे बतलाया ।

+ नररलैर्गुराविन्दिरा मता । —छन्दोमञ्जरी

[illegible]

[illegible]
[illegible] ।
卐 [illegible]
[illegible] ॥

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥

'तप' शब्दगत 'त' तथा 'प'—इन दो अक्षरों को एक विचित्र विधि से मिलाकर महत्त्वपूर्ण स्वस्तिक का स्वरूप तैयार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि तप में ही अपना श्रेयस् तथा उन्नति सन्निहित है। अर्थात् जो तप करता है, उसे 'स्वस्ति' प्राप्त होती है। उसका रेखांकित स्वरूप इस प्रकार है—卐। इस चतुष्कोण मय आकृति को किसी भी प्रकार से घुमाया जाये तो 'त' और 'प'—ये दो अक्षर ही ध्यान में आयेंगे। जैसे h यह चिन्ह त का उलटा प्रतीक है। इसे उलट देने पर (त) पढ़ा जायेगा। h इसी को ऊपर की ओर घुमाकर उलटा पढ़ा जाए तो यह (प) पढ़ा जायेगा। इसके उलटे और सीधे दोनों रूप लिखें तो 'फ' ऐसा आकार हो जाता है और यदि चारों तरफ 卐 इस प्रकार लिखें तो स्वस्तिक बन जाता है। इसे वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सभी भारतीय धर्मों ने सादर ग्रहण किया है।

स्वस्तिक का ही कुछ परिवर्तन रूप + CROSS ईसाई धर्म में स्वीकृत है। इस्लाम द्वारा स्वीकृत चाँद, तारे रूप धार्मिक प्रतीक में भी सूक्ष्मतः इसके विशेष परिवर्तित रूप की परिकल्पना की जा सकती है।

आशय यह है कि संसार के प्रायः सभी धर्मों द्वारा तप के महत्व को स्वीकार कर उसको प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देने का सत्प्रयास रहा है।

उपर्युक्त विवेचन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

यदि ऊपर से लकीर मोड़कर एक खड़ी लकीर के मध्य बिन्दु से मिलाएँ तो 'प' होता है। अर्थात् जैसे यह '।' खड़ी लकीर है। ऊपर से लेकर मध्य बिन्दु से टेढ़ी—टेढ़ी कर दूसरी लकीर 'L' इस खड़ी '।' लकीर से मिलाई जाए तो 'प' बन जाता है। दूसरी ओर से नीचे से उठाकर तीसरी लकीर को उसी खड़ी लकीर के मध्य बिन्दु से जोड़ा जाए तो यह विलोम—उलटा 'h' बन जाता है। यदि ऊपर से उतरेंगे तो यह 'पत' अर्थात् अधःपतन—गिरावट हो जायेगा किन्तु यदि नीचे से ऊपर की ओर चलेंगे तो पहले 'h' (त) तत्पश्चात् 'प' अर्थात् तप हो जायेगा।

दूसरी तरह से ऊपर-नीचे रखने से फ हो जायेगा। इसी सीधी लकीर के ऊपर-नीचे विपरीत दिशाओं में दो लकीरें जोड़ दी जाएं तो यह 卐 स्वरूप होगा जो स्वस्तिक के नाम से विश्रुत है।

इस प्रकार यह पाँच लकीरों का जोड़, जो तप से निष्पन्न होता है, स्वस्तिक का तात्त्विक विश्लेषण है।

(११)

इति भवांस्तपः - सद्रहस्यम्,
ऋषियुक्तयांश्चित्त - शोधकम्।
प्रकृति - गोपितं स्वस्तिकं शुभम्,
रविरिव प्रकाशं समानयत्॥

(१२)

भवति सर्वदा स्वस्तिकं गृहे,
तपति चेज्जनस्तस्य पूर्णतः।
लिखति लक्ष्म यः स्वस्तिकस्य तत्,
भवति पुस्तकेऽप्यप्यतोऽव्ययम्॥

(१३)

अपि तपो विना स्वस्ति लभ्यते,
नहि कदापि ना सत्तपो विना।
अपि शतान्युपायान् करोतु चेत्,
शत - शरद्भिरो - शान्तिमाप्नुयात्॥

(१४)

ऋषय ऊचिरे तत्त्वमीक्षणात्,
तपस ऊर्जितात् स्वस्ति सम्पदाम्।
भवति शान्तिरप्यत्र तत्र च,
जिन - महेश्वरे चित्त - सँल्लयः॥

(१५)

तपस उत्तमात् सन्महिम्न उ—
न्नयति सन्मुनिः श्रावकान् समान्।
जिन - पदाब्ज - सद्भक्तिमुत्तमाम्,
विष - भवार्णवं तगरन्ति ते॥

(११)

यों आचार्यप्रवर श्रीजयमल्लजी ने चित्त-शोधक तप रहस्य ऋषि की तरह अनुभूति के स्वर में समझाया।

सामान्यतः जो गुप्त—अप्रकट था, पवित्र स्वस्तिक का वह गहन तत्त्व वे प्रकाश में लाये।

(१२)

जो मनुष्य तप की आराधना करता है, उसके घर में सदा श्रेयस् का वास होता है। जो स्वस्तिक के प्रतीक-चिन्ह का गृह आदि में अंकन करता है, वहाँ सर्वत्र कल्याण होता है। स्वस्तिक का समाराधक कभी नष्ट नहीं होता। उसका साहित्यगत अस्तित्व सदा अक्षुण्ण—अमर बना रहता है।

(१३)

तप के बिना कभी कल्याण नहीं सधता और तो क्या, मनुष्य चाहे सैंकड़ों उपाय करे पर तपस्या के बिना वह सैंकड़ों वर्षों में भी सच्ची शान्ति नहीं पा सकता।

(१४)

तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने कितना अच्छा कहा है— प्रचुर तप से ही मानव के यहाँ सम्पत्तियों का अस्तित्व होता है—उसे वे सुप्राप्त होती हैं। तप से इस लोक में और परलोक में शान्ति मिलती है। तप से ही चित्त वीतराग प्रभु में लीन होता है।

(१५)

उत्कृष्ट, महिमामय तप से ही सात्त्विकचेता मुनि अपने श्रावकों को उन्नति-पथ पर अग्रसर करता है—स्वयं तप का आराधन कर, उपासकों को उस ओर सम्प्रेरित कर अध्यात्म-विकास में खुद आगे बढ़ता है, अनुयायियों को आगे बढ़ाता है।

तप साधना से वीतराग प्रभु के चरण-कमलों में निर्मल भक्ति जागरित होती है। तप की आराधना करने वाले दुःखों के हलाहल से भरे संसार-सागर को पार कर जाते हैं।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

(१६)

तपःशील साधक के दर्शन करने हेतु देवगण अपने-अपने विमानों द्वारा आते हैं, आकाश में संस्थित हो वे उन पर शुद्ध भावनात्मक अमृतमय पुष्पों की वर्षा करते हैं अर्थात् तपस्वी के प्रति वे अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा प्रकट करते हैं।

(१७)

न केवल मनुष्य तथा देवता ही एक तपस्वी मुनि के प्रति भक्ति-भाव दिखाते हैं, अपितु राक्षस, किन्नर, नाग, दैत्य तथा दानव—सभी उनकी उपासना—अर्चना करते हैं।

(१८)

अन्तःस्पर्शी, (ॐ) ओङ्कार के जाप से अनुरणित, आत्मभाव में स्थिर करने वाले, सतत ऊर्ध्वगामी, सर्वत्र सम्व्याप्त आपके स्वर से अनुप्राणित श्रद्धालु जन साधना के पावन पथ की ओर स्वयं खिंचे चले आते थे। वस्तुतः आप अध्यात्मयोगी थे, जिनका ऐसा प्रभाव होता ही है।

(१९)

गुरुदेव ! जैसे आकाश में हवा चलती है, उसी प्रकार आपकी प्रणव-ध्वनि आपके रोम-रोम से प्रवाहित होती थी। योग-साधना-प्रसूत अनाहत नाद, जो ध्याता और ध्येय का ऐक्य सध जाने पर स्वयं फूट पड़ता है, सहज ही आपके देह के अणु-अणु में सञ्चरणशील था।

(२०)

महात्मन् ! आप द्वारा सुप्रसारित अध्यात्म-योग की दिव्य सुरभि जहाँ-जहाँ पहुँची लोग सन्तृप्त हो गये। वह ध्रुव की तरह सदा स्थिर है, स्थिर रहेगी, जगत् में अध्यात्म का उद्योत फैलाती जायेगी, कभी मिटेगी नहीं।

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(२१)

आचार्य प्रवर ने दीपावली-पर्व का आध्यात्मिक विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से करते हुए उपदेश दिया कि जैसे दीपक में घृत और बाती अग्नि से जुड़कर प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार साधक अपने शरीर रूपी दीपक में सचरणशील श्वासरूपी घृत से मन की चेतनारूपी बाती को तर कर वीतराग-प्रतिपादित सद्ज्ञानरूपी अग्नि से जोड़े। अपने व्यवहाररूपी घर को प्रकाशित करे। यह वास्तविक दीपावली-पूजा होगी।†

(२२)

गुरुवर जय ! जो मनुष्य आपके बताये मार्ग पर चलता है, वह सुख एवं आनन्द प्राप्त करता है। प्रभुवर ! जब आपको स्मरण करते हैं तो हृदय की एक विचित्र सी भक्ति-विह्वल दशा हो जाती है।

(२३)

महात्मन् जय ! आपका मन अक्षर ब्रह्म—शाश्वत परमात्मभाव में सदा रमण करता था, उसी में सदा लीन रहता था। आपके नामके दोनों अक्षर 'ज' और 'य' विजयशील हैं, जन-जन में प्रसन्नता का संचार करते हैं।

† पर्व दीवाली रे दिने, पूजे वही लेखण ने दोत।
ज्यूं तूं धर्म ने पूजले, दीपे अधिकी जोत॥
पर्व दीवाली जाण ने, उजवाले हवेली ने हाट।
इम तू व्रत उजवालले, बंधे पुन्य रा ठाट॥
धन धान त्रिया बालक स्वजन, व्हाला लागे तोय।
ऐमो नेह कर धर्म सूं, तो मुक्ति तणा सुख होय॥
—जयवाणी

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यदरिद्रं धनं स्वयमेव दुर्—गच्छति, यश्च पुनः दारदे मन्—दारान् ददातीति दारदः—दुर्बोधः—अबोधः—अज्ञानमित्यर्थः, तस्मिन् मन् गच्छति अज्ञानं प्राप्नोति, तदा स दर्दौ—खण्डितः—आत्मस्वरूपात् पृथग्भूतः नानाजीवयोनिषु प्रक्षिप्तो भवतीति भावः।

भावार्थ—

जो व्यक्ति धन उपार्जित कर स्वयं उपभोग करता हुआ जरूरतमन्दों को दान देता है, वह स्वधर्म का पालन करता हुआ समुन्नत होता है। किन्तु जो व्यक्ति किसी को दान न देता हुआ स्वयं ही उपभोग करता है, वह अन्त में दुःखी होता है। जो व्यक्ति दान लेकर यथाशक्ति दान करता हुआ उपभोग करता है, वह स्वर्ग-तुल्य सुख पाता है। जो अन्न आदि पदार्थों का दान करता है, वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्रभृति दुःखों को खण्डित कर सुखी होता है।

जो व्यक्ति पाप से धन कमाकर उसे दुर्व्यसनों में खर्च करता है, वह अत्यन्त दुःखी होता है। *जो व्यक्ति धन का हिंसा, व्यभिचार आदि कर्मों में दुरुपयोग करता* है, वह भी अन्ततः अत्यधिक दुःखी होता है, इस प्रकार जो व्यक्ति अज्ञान के अन्धकार में प्रविष्ट होता है, वह बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है।

(२६)

गुरुवर ! जो आदर पूर्वक आपके उपदेश का अभ्यास करता है—तदनुसार आचरण करता है, आपके चरण-कमलों का स्मरण करता है, वह आप सदृश स्थान, भाव प्राप्त कर लेता है। *जागतिक मोह-माया को सरलता से जीतकर शाश्वत सुख* का अनुभव करता है।

(२७)

प्रभुवर ! जो आपके उपदेश का यथावत् पालन करता है, वह अवश्य ही कल्याण प्राप्त करता है, जीवन में विजेता या सफल साबित होता है, उसके सब प्रकार के दैहिक, मानसिक रोग, क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वह श्रेष्ठ आत्मयश करता है अतः उसे किसी भी विघ्न-बाधा का भय नहीं रहता। वह अपने आपका—अपने इन्द्रिय ग्राम तथा मन का अधिपति बनकर देदीप्यमान—सुशोभित होता है।

(२८)

आप द्वारा कहे गये वचन, जो 'जयवाणी' के रूप में सुरक्षित हैं, जो सुनते हैं वे आप में अपना अन्तरतम रमाकर आपका दर्शन करना चाहते हैं पर आपके दृष्टिगोचर न होने पर (पौराणिक आख्यान के अनुसार) भगवान् विष्णु के अन्तर्धान हो जाने पर उनके चरण-कमल ढूंढते ब्रह्मा की तरह वे आपके चरण-कमलों को सर्वत्र—थल, जल, *आकाश में ढूंढने लगते हैं।*

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

([illegible])

[illegible]

(२३)

मुनिज - मानस रञ्ज - नैपरः,
नयनयो मुनिना [illegible]।
[illegible] विस्मृत ने मन,
[illegible] निशिवाप [illegible]॥

(२९)

गुरुदेव ! आपके नाम के पूर्व ॐ जोड़कर, नाम को चतुर्थी विभक्ति—'जयाय' के आगे 'नमः' लगाकर अर्थात् 'ॐ जयाय नमः' मन्त्र का कोई सतत जप करे तो कदाचित् उसको अपने मन में आपका दर्शन हो जाए।

(३०)

गुरुवर्य ! आपकी याद पर्वत की चट्टानों को तोड़ती-फोड़ती, वृक्षों को उखाड़ती नदी की तरह हमारे धैर्य का उन्मूलन करती हुई सुषुप्ति की गहराई में छिपी हमारे अन्तर्हृदय की तीव्र वेदना को जगा देती है। अर्थात् आपकी सशरीर अविद्यमानता का घोर दुःख हमारे हृदय को शालने लगता है।

(३१)

गुरुवर्य ! मेरी आँखें आपके दर्शन के लिए आकुल हैं। वे पृथ्वी पर आपके पद-चिन्हों से बनी मनोज्ञ पगडंडी को देखती-देखती थक गईं, आप नहीं मिल पाए। मिलते भी कैसे, आप तो इन्द्रियातीत हैं—इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। क्या करूँ—स्वर्ग तक उनकी (मेरी आँखों की) पहुँच नहीं है।

(३२)

गुरुदेव ! आपने इस मानव-शरीर को परदेश के सदृश बतलाया। फिर उसके साथ कैसी आसक्ति ! परदेश-स्थित व्यक्ति के पास ज्योंही घर से बुलावट का पत्र आ जाता है, तो न वह आँधी गिनता है और न वर्षा। तत्काल परदेश छोड़कर चल पड़ता है।† यही स्थिति इस शरीर के साथ है। आयु-क्षय का परवाना जिस क्षण आजाता है, उसी क्षण इस देह को छोड़ देना पड़ता है।

(३३)

ऐसी लाल-लाल आँखें किये, मानो उनमें लाल मिर्चें डाल रक्खी हों, क्रोध से उन्मत्त रहने वाला मनुष्य आपके वचनों को भूलकर निश्चय ही नरकगामी होता है। आपने कितना सुन्दर कहा था —

"तामस तपियो नर इसो, आँख मिरच जिमि आँजी रे।
क्रोध विणासे तप सही, दूध विणासे काँजी रे॥ —जयवाणी

---

† परदेशी परदेश में, किणसूं करे रे सनेह।
आया कागद उठ चले, आँधी गिणे न मेह॥ —जयवाणी

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(३४)

आपने कहा— यह मानव-शरीर अन्ततः राख की ढेरी में परिणित हो जाता है। अर्थात् यह तो क्षणभंगुर है, इसमें स्थायित्व नहीं है। उदाहरणार्थ घर का स्वामी जो सब पर अपना अधिकार जताता रहा, मर जाए तो उसे भी घास-फूस और लकड़ी की धधकती चिता में फौरन जला दिया जाता है।†

(३५)

गुरुवर ! आपने इस प्रकार इस मानव-देह की नश्वरता संसार के समक्ष साफ-साफ प्रकट कर दी। जो आपके वचन में श्रद्धा नहीं करता, वह बार बार संसार-सागर में गोते खाता रहता है।

(३६)

आपने बतलाया—साधु युद्ध में जाते योद्धा की तरह आलस्य छोड़कर, आत्म-ज्ञान रूपी घोड़े पर सवार होकर, कर्मरूप विरोधी सेना से जूझ पड़ता है,। वीरता के साथ भिड़ जाता है। अर्थात् निर्मल आत्मबोध के सहारे वह कर्म काटने में लगजाता है।‡

(३७)

इस प्रकार रूपकों के सहारे आपने एक विशाल एवं अति अद्भुत काव्य ही रच डाला। अनोखी सूझबूझ—कल्पनामयी प्रतिभा द्वारा आपने कवि-चमत्कृति की मानो पराकाष्ठा ही करदी अर्थात् आपकी अनेक रचनाएँ उच्चतम कृतित्व की द्योतक हैं।

---

† लेजाई लक्कड़ में दीधो, मुवो घर रो धोरी रे।
घास-फूस छाणा देई ने, फूँक दियो जिमि होली रे।

—जयवाणी

‡ साधुजी उठ्या सूरमा रे, ज्ञान-घोड़े असवार।
कर्म-कटक-दल जूँझिया रे, विलब न कीध लगार॥

—जयवाणी

(३८-३९)

अबुध - मानवान् गो-खरानिव,
जड - शिलामयान् मूक - निर्जरान्।
सुर - गणालये जुह्वतो ह्मन्,
समवलोक्य दीपार्पणादिभिः॥
जलधि - ताडना - व्यर्थमक्रियाम्,
विधि - विहीनमाकुर्वतश्च तान्।
अति - दयालुतातः प्रियंवदः,
ह्युपदिदेश वस्तु - स्थितिं भवान्॥

(४०)

निज - तनौ सुदेवालये सदा,
भज जिनेश्वरं ज्ञान - रूपिणम्।
महिम - कीर्ति - शम्येन झल्लरीम्,
प्रणिनिनादयन् पूजयाऽनिशम्॥

(४१)

मनसि धैर्य - धूपं प्रसाधयन्,
स्तुति - वचः - प्रसूनानि भक्तिमन्।
जिन - पदाब्जयोः श्रद्धयार्पयन्,
प्रभु - जिनेश्वरं सर्वदार्चय॥

(४२)

सदय - दीप - संवेग - वर्तिकाम्,
सम - गनेन चिज्ज्योतिषा सता।
ज्वलय तेन मिथ्यात्व - नाशकः,
हृत्समुदेष्यति ज्ञान - भास्करः॥

(३८-३९)

देवमन्दिरों में पशुवत् अज्ञ जनों को जड पाषाणमय मूक देवताओं की धूप, दीप आदि से पूजा करते, समुद्र के पानी पर लट्ठ मारने की भांति शास्त्र-सिद्धान्त वर्जित निरर्थक विधि-विधान समायोजित करते देख अत्यन्त दयालुतापूर्वक आपने मधुर वाणी में वस्तुस्थिति का चित्रण करते हुए सदुपदेश दिया।

(४०)

अपने देहरूप सुन्दर देव-मन्दिर में हृदय-स्थित ज्ञान-रूप वीतरागदेव की गौरव-यशः– स्तुतिरूप शंख तथा झालर बजाकर पूजा कीजिए।*

(४१)

मनरूपी धूमपात्र द्वारा धृतिरूपी धूप खेकर अर्थात् मन में स्थिरता या चैतसिक वृत्तियों का सन्निरोध संपादित कर भक्तिशील मानव! आत्मस्थ वीतरागदेव के चरण-कमलों में श्रद्धापूर्वक गुणकीर्तनात्मक स्तुतिवाक्य-रूप पुष्प समर्पित करते हुए उनकी सदा अर्चना करो।†

(४२)

दया का दीपक सजाओ। वैराग्य की बाती बनाओ। समता से अनुप्राणित चिन्मय ज्योति द्वारा उसे संजोओ। फलतः मिथ्यात्व-विपरीत ज्ञान या अज्ञान के अन्धकार का विनाशक सम्यक्त्व-ज्योति स्वरूप ज्ञानमय सूर्य उदित होगा।‡

---

* कायारूप करो देहरो, ज्ञानरूपी जिनदेव।
जस-महिमा-शंख-झालरी, करो सेवा नितमेव॥ —जयवाणी

† धीरज मन (में) करो धूपणों, तप अगरज खेव।
श्रद्धा-पुष्प चढ़ाय ने, हम पूजो जिनदेव॥ —जयवाणी

‡ दयारूपी दिवलो करो, संवेगरूपणी बाट।
समगत-ज्योति उजवालले, मिथ्या अँधारो जाए फाट॥

१

[illegible] ।
[illegible] ।

२

[illegible] ।
[illegible] ।

३

[illegible] ।
[illegible] ।

४

[illegible] ।
[illegible] ॥

(४८)

वीतराग प्रभु का शुद्ध, पक्षपातशून्य, पवित्र मार्ग आपने सुगम, सुकोमल वचनों द्वारा जन-जन को दिखलाया, प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से जगत में उसका व्यापक प्रसार किया।

(४९)

सभी लोग आपकी वाणी में संग्रथित उत्तम आध्यात्मिक भावों का आज भी चिन्तन-मनन कर शान्ति प्राप्त करते हैं पर जब वे नेत्रों से आपका दर्शन नहीं कर पाते, तब उनका मन बड़ा दुःखित हो जाता है।

(५०)

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज उषःकाल में उदित होते सूर्य की तरह जगत् में आये। सूर्य की प्रभातकालीन किरणों जैसे मुसकाते शैशव में खिले। मध्यान्ह के सूर्य की तरह यौवन में अपने प्रखर तपोमय जीवन से चमके, वृद्धावस्था में सायंकालीन सूर्य की तरह महत्त्वपूर्ण सदुपदेशमय शब्द-रूप किरणें संसार में बिखेरकर अन्तर्धान हो गये।

(५१)

पिछले श्लोक के भाव का विशदीकरण यों है—

आचार्यवर श्री जयमल्लजी महाराज सूरज के समान उद्योत करते हुए जगत् में आए। जब शैशव में थे, तभी एक दिव्य दीप्ति उनमें आभासित थी। यौवन में अनगिनत शारीरिक ताप—कष्ट, प्रतिकूलता आदि की जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने व्रतमय, तपोमय जीवन में सदा बढ़ते ही बढ़ते रहे। अन्तत वृद्धावस्था में सन्थारा—आमरण अनशन पूर्वक पाञ्च भौतिक कलेवर का त्याग किया।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है।

(५२)

श्री जयमल्लजी महाराज की जीवन-सरिता निर्मलगंगा की तरह जिस वेग से अध्यात्म-विजय का घोष लिये बहनी शुरू हुई, उसी वेग से अनवरत आगे बढ़ती हुई आत्मानन्द रूपी सागर में समा गई।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।

(४८)

वीतराग प्रभु का शुद्ध, पक्षपातशून्य, पवित्र मार्ग आपने सुगम, सुकोमल वचनों द्वारा जन-जन को दिखलाया, प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से जगत में उसका व्यापक प्रसार किया।

(४९)

सभी लोग आपकी वाणी में संग्रथित उत्तम आध्यात्मिक भावों का आज भी चिन्तन-मनन कर शान्ति प्राप्त करते हैं पर जब वे नेत्रों से आपका दर्शन नहीं कर पाते, तब उनका मन बड़ा दुःखित हो जाता है।

(५०)

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज उषःकाल में उदित होते सूर्य की तरह जगत् में आये। सूर्य की प्रभातकालीन किरणों जैसे मुसकाते शैशव में खिले। मध्यान्ह के सूर्य की तरह यौवन में अपने प्रखर तपोमय जीवन से चमके, वृद्धावस्था में सायंकालीन सूर्य की तरह महत्वपूर्ण सदुपदेशमय शब्द-रूप किरणें संसार में बिखेरकर अन्तर्धान हो गये।

(५१)

पिछले श्लोक के भाव का विशदीकरण यों है—

आचार्यवर श्री जयमल्लजी महाराज सूरज के समान उद्योत करते हुए जगत् में आए। जब शैशव में थे, सभी एक दिव्य दीप्ति उनमें आभासित थी। यौवन में अनगिनत शारीरिक ताप—कष्ट, प्रतिकूलता आदि की जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने व्रतमय, तपोमय जीवन में सदा बढ़ते ही बढ़ते रहे। अन्ततः वृद्धावस्था में सन्थारा—आमरण अनशन पूर्वक पाञ्च भौतिक कलेवर का त्याग किया।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है।

(५२)

श्री जयमल्लजी महाराज की जीवन-सरिता निर्मलगंगा की तरह जिस वेग से अध्यात्म-विजय का घोष लिये बहनी शुरू हुई, उसी वेग से अनवरत आगे बढ़ती हुई आत्मानन्द रूपी सागर में समा गई।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।

परिशिष्ट : 9

(१)

[illegible] [illegible], [illegible] - [illegible]
[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] ।

(२)

[illegible] - [illegible], [illegible] प्रतिमान म ।
[illegible] - [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ॥

(३)

प्रथमो धर्मदासाख्य, द्वितीयो [illegible] - [illegible] ।
तृतीयो धर्मसिंहाख्य, [illegible] [illegible] [illegible] ॥

(४)

धन्नाजी धर्मदासस्य, शिष्यः पट्टधरोऽभवत् ।
तस्य पट्टधरः शिष्यः, आचार्यो भूधरोऽभवत् ॥

(५-७)

एभिर्योग्यतमाचार्यैः, जैन - श्वेताम्बराणिनाम् ।
परम्परा - गुणम्लाना, कल्पवृक्षो यथाङ्कुरः ॥
त्याग - ज्ञान - तपो - योग - वैराग्यामृत - धारया-
ऽभिषिच्य वर्धित सम्यक्, योग्य - शिष्येण आदरात् ।
संरक्षक - तपस्विभ्यो ऽमूल्य - [illegible] - निधिर्यथा ॥
उत्तरोत्तर - पृथक्पर्यम् सामोदं सुसमर्पितः ॥

(८)

भूधरो भूधरस्याऽसन् [illegible] [illegible] ।

परिशिष्ट : 9

(१)

स्थानकवासी जैन श्रमण संघ रूप भव्य अट्टालिका के प्रमुख आधार-स्तंभों के रूप में तीन महापुरुषों के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं।

[इस परिशिष्ट में सर्वत्र अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है।]

(२)

इन तीनों सत्पुरुषों ने लोंकाशाह के धार्मिक क्रान्ति मूलक विचारों का विकास करते हुए श्रमण-संघ को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया।

(३)

पहले मुनि श्री धर्मदासजी, दूसरे लवजी ऋषि, तथा तीसरे मुनि श्री धर्मसिंह जी—तीनों ही श्रमण-संघ के सुदृढ़ स्तंभ थे।

(४)

मुनि श्री धर्मदास जी के पट्टधर—उत्तराधिकारी शिष्य श्रीधन्नाजी थे। श्री धन्नाजी के उत्तराधिकारी आचार्य श्री भूधरजी हुए।

(५-७)

स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ के इन परम योग्य आचार्यों ने नवांकुरित कल्प-वृक्ष की तरह अपने परम्परा-प्राप्त अभिनव धर्म संघ को त्याग, ज्ञान, तपश्चरण, योग तथा वैराग्य-रूप अमृत-धारा से सींच-सींच कर भली भाँति संवर्धित किया और वे उत्तरोत्तर वृद्धि हेतु इसे संरक्षणशील, तपस्वी, सुयोग्य शिष्यों को पैतृक निधि के रूप में आदर एवं आनन्द पूर्वक सौंपते गये।

(८)

आचार्य श्री भूधरजी महाराज के साधारण, विशिष्ट अनेक शिष्य थे। उनमें तीन सर्वाधिक योग्य एवं उत्तम तपोधन के धनी थे।

(९-१०)

तेषु श्रीरघुनाथोऽस्ति, ज्येष्ठो दाशरथिर्यथा।
द्वितीयो जयमल्लोऽस्ति, सशक्तो भरतो यथा॥
तृतीयः कुशलः सोऽस्ति, यो [illegible]।
धर्म-मार्ग समारूढा, लोक-कल्याण-कारिणः॥

(११)

रघुनाथस्य भीखन्जी, शिष्य सिद्धान्त-भेदभाक्।
किन्तु श्रीजयमल्लस्य, सम्मानं कुरुते स्म सः॥

(१२)

अन्येषां सम्प्रदायानां, जयमल्लस्य शासिताः।
[illegible] मध्ये, सामञ्जस्य-सुसाधकाः॥

(१३-१४)

आचार्य - रघुनाथस्य, सम्प्रदाये प्रवर्तकः।
अद्यत्वे श्रीमरुद्-भूमि-केसरी मिश्रिमल्लजी॥
प्रभावोत्पादकः साधुः, यस्य नाम्ना त्वनेकशः।
धर्म-संस्था विलोक्यन्ते, यत्र तत्र व्यवस्थिताः॥

(१५)

तथैव जयमल्लस्य, सम्प्रदायस्य दीपकः।
मिश्रीमल्लो महायोगी, वर्तमानः प्रकाशते॥

(१६)

योऽस्मो श्रमण-संघस्य, युवाचार्यः प्रतिष्ठितः।
मधुकरेति विख्यातः, राजते मधुराकृतिः॥

(१७)

स्व-ज्येष्ठाय गुरु-भ्रात्रे, व्रजलालाय धीमते।
विशेषादरमाधत्ते, योग्य-शिष्यो गुराविव।

(१८)

कुशलोजी-महासाधोः, सम्प्रदाये विराजते।
अद्यत्वे हस्तिमल्लाख्यः, आचार्यः सरलाकृतिः॥

(९-१०)

अयोध्याधिपति दशरथ-पुत्र राम की तरह उनमे सबसे बडे रघुनाथजी थे। तप-त्याग-भूषित भरत की तरह दूसरे जयमल्लजी थे। तीसरे सौम्य-कुशलोजी थे। ये सभी धर्म-पथ पर गतिशील थे, जन-जन के कल्याण मे तत्पर थे।

(११)

आचार्य श्री रघुनाथजी के एक शिष्य भीखणजी थे। उनका गुरु से मत-भेद हो गया। पर, श्री जयमल्लजी का तो वे भी सम्मान करते थे।

(१२)

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज की परम्परा के मुनि-गण सभी सम्प्रदायों के पारस्परिक सामंजस्य—सभी सम्प्रदायों को एक संघ के अन्तर्गत साधना-रत, कार्य-रत रखने के अपेक्षाकृत अधिक पक्षपाती रहे हैं।

(१३-१४)

आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज के सम्प्रदाय में इस समय प्रवर्तक पदारूढ मरुधर-केसरी मुनि श्री मिश्रीमल्लजी महाराज हैं। वे बड़े प्रभावशाली सन्त हैं, जिनके नाम पर जहाँ तहाँ अनेक धार्मिक संस्थाएँ सुव्यवस्थित रूप मे सत्कार्य-रत हैं।

(१५)

उसी प्रकार इस समय आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज की परम्परा मे महान् साधक, धर्म-संघ के उद्दीपक श्री मिश्रीमल्लजी महाराज विद्यमान हैं।

(१६)

ये वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के युवाचार्य पद पर अधिष्ठित हैं। श्री मधुकर मुनिजी महाराज के नाम से ये सुविश्रुत हैं। इनके आकार-प्रकार की ही अपनी विशेषता है। उसमे स्वाभाविक मधुरता शोभित होती है।

(१७)

सुयोग्य शिष्य गुरुके प्रति जैसा आदर रखता है, ये अपने बडे गुरु-भ्राता सन्तरत्न उप-प्रवर्तक श्री व्रजलालजी महाराज के प्रति वैसा ही विशेष मान-सम्मान रखते हैं।

(१८)

महामुनि श्री कुशलोजी महाराज के सम्प्रदाय मे इस समय आचार्य श्री हस्तिमल्लजी महाराज हैं, जिनके व्यक्तित्व मे सहज सरलता टपकती है।

(१९)

श्रीजयमल्ल आचार्यः, निधि - वेदाहि - निट्पतौ।
सुशिष्यं रायचन्द्रं तु, युवाचार्यमघोषयत्॥

(२०-२१)

आचार्यो रायचन्द्रोऽसौ, रस - ग्रहर्षि - राश्रिपे।
अश्विने मासि शुक्ले च, पक्षे चैकादशी - तिथौ॥
धारीवाल - विजैराजात्, नन्दा - देव्यामजायत।
अलञ्चकार रायेन्दुः, जोधपुरं स्व - जन्मना॥

(२२)

विवाहात् पूर्वमेवाऽसौ, गीतं श्रुत्वा सुमङ्गलम्।
उदबुद्ध - तीव्र - वैराग्य., दीक्षाञ्जग्राह गोर्धनात्॥

(२३)

प्रणीयान्नेक - सद्ग्रन्थान्, तप्त्वान्नेक - तपांसि च।
वसु - रसाष्ट - चन्द्रेऽपि, भौतिकीमत्यजत्तनूम्॥

(२४)

आसकरण आचार्य, नेत्रेन्द्वष्ट - क्षपापतौ।
योथरा - रूपचन्द्रात् सः, तिवर्या समजायत॥

(२५)

गुणोऽष्टादश - वर्षीयः, श्रीजयाचार्य - सद्गुरो।
शून्य - ऽष्टाष्ट - विधौ वर्षे, दीक्षां जग्राह सद्गुनः॥

(२६)

ऋषि - बाणाष्ट - चन्द्रेऽब्दे, रायचन्द्रो गणाधिपः।
शोभयामास हर्षेण, युवाचार्य - पदेन तम्॥

(२७)

आसकरण आचार्यः, संघ - भारं न्यवेश्यत्।
मुनि - सवलदासाय, विश्वष्टाष्ट विधौ वर्षे॥

(१९)

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज ने विक्रम संवत् १८४६ में अपने योग्य शिष्य मुनि श्री रायचन्द्रजी को युवाचार्य घोषित किया।

(२०-२१)

श्री रायचन्द्रजी ने विक्रम संवत् १७९६ में आश्विन शुक्ला ११ को जोधपुर में श्री विजयराजजी धाड़ीवाल के घर श्री नन्दा देवी की कोख से जन्म लिया था।

(२२)

इनका विवाह होने को था। मंगल गीत गाये जा रहे थे। इन्होंने भी सुने। उसी क्षण गहन विचार-मन्थन के परिणाम-स्वरूप इनके मन में तीव्र वैराग्य जगा। इन्होंने मुनि श्री गोरधनदासजी महाराज से दीक्षा ग्रहण करली।

(२३)

इन्होंने अपने जीवन में अनेक उत्तम ग्रन्थों की रचना की। बहुविध तपों की आराधना की। अन्ततः विक्रम संवत् १८६८ में अपने पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग किया।

(२४)

उनके उत्तराधिकारी आचार्य श्री आसकरणजी थे। इनका विक्रम संवत् १८१२ में तिवरी (मारवाड़) में श्री रूपचन्द्रजी बोथरा के घर जन्म हुआ।

(२५)

इन्होंने विक्रम संवत् १८३० में अठारह वर्ष की अवस्था में सद्गुरुवर आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज से श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

(२६)

आचार्य श्री रायचन्द्रजी महाराज ने इन्हें विक्रम संवत् १८५७ में युवाचार्य पद से विभूषित किया।

(२७)

आचार्य श्री आसकरणजी महाराज ने विक्रम संवत् १८८१ में मुनि श्री सबल-दासजी को संघ का भार सौंपा।

(२८-२९)

सबलदास आचार्यः, युवाचार्य - परम्पराम् ।
व्यपेधत्तेन तच्छिष्यः, स्वर्गते स्व - गुरौ ततः ॥
हीराचन्द्रस्त्रि-शून्याङ्क - चन्द्र आषाढ - मासि च ।
आचार्य - पदमारुह्य, शुशुभे स शशाङ्कवत् ॥

(३०)

कस्तूरचन्द्र आचार्यः, हीराचन्द्रस्य शिष्यकः ।
बालको नव-वर्षीयः, एव दीक्षां गृहीतवान् ॥

(३१)

वस्वङ्क - वसु - चन्द्रेषु, कुन्दना - नरसिंहयोः ।
गृहेऽजनि स सङ्घेन, मुनीन्द्रो यौवने कृतः ॥

(३२)

श्री भीकमचन्द्र आचार्यः, जय - गच्छस्य सप्तमः ।
प्रोष्ठपद्या विधौ पूर्णे, आचार्य - पदमग्रहीत् ॥

(३३)

श्रीकानमल्ल आचार्यः, जय - गच्छस्य चाष्टमः ।
भीकमचन्द्र-शिष्योऽभूत्, प्रज्ञावान् प्रतिभान्वितः ॥

(३४)

वसु - वेदाङ्क-चन्द्रेऽब्दे, माघस्य पूर्णिमा-तिथौ ।
सोऽजायत शुभागारे, तीजादेव्यंगराजयोः ॥

(३५)

कामबाण - रसाङ्केन्दौ, ज्येष्ठमासे सिते दले ।
द्वादश्यां कानमल्लोऽसौ, बभूव जय-गच्छ-नीः ॥

(३६)

असौ चारित्र्य-निष्ठायाम्, विशिष्ट-ध्यान-तत्परः ।
अनुशासन - दक्षश्च, विख्यातोऽभून्महा - मुनि ॥

([illegible])

आचार्य श्री [illegible] के [illegible], जिनके उनके शिष्य मुनि श्री हीराचन्दजी विक्रम संवत् [illegible] में [illegible] आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इनकी [illegible] होते हैं।

(२०)

आचार्य श्री हीराचन्दजी के पश्चात् उनके शिष्य श्री कस्तूरचन्दजी आचार्य हुए। [illegible] ही [illegible] की।

(२१)

आचार्य श्री कस्तूरचन्दजी का जन्म विक्रम संवत् [illegible] में श्री [illegible] व माता श्री [illegible] के घर हुआ। बाल्यावस्था में ही संघ द्वारा इन्हें आचार्य-पद का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

(२२)

जयगच्छ के सातवें आचार्य श्री भीखमचन्दजी हुए। इन्होंने विक्रम संवत् १९४० माह कृष्णा पूर्णिमा के दिन आचार्य-पद सम्हाला।

(२३)

आचार्य श्री भीखमचन्दजी के शिष्य मुनि श्री कानमलजी जयगच्छ के आठवें आचार्य हुए। वे बड़े मेधावी एवं प्रतिभाशाली थे।

(२४)

इनका विक्रम संवत् १९१८ माघ शुक्ला पूर्णिमा को श्री [illegible] तथा श्री [illegible] के यहाँ जन्म हुआ।

(२५)

श्री कानमलजी महाराज [illegible] शुक्ला द्वादशी विक्रम संवत् १९५४ में जयगच्छ के अधिनायक आचार्य हुए।

(२६)

आचार्य श्री कानमलजी चारित्र निष्ठा में अत्यधिक जागरूक तथा अनुशासन निपुणता में सुविख्यात थे।

([illegible])

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

([illegible])

[illegible] विनाश ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

(५९-६०)

विक्रम संवत् २००९ में स्थायी संगठन हेतु स्थानकवासी मुनियों का सादड़ी में वृहद् सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों से मुनिगण उपस्थित हुए।

(६१-६२)

उस सम्मेलन के अवसर पर दूरदर्शिता पूर्वक अपने पुरातन सम्प्रदाय जय-गच्छ का अभिनव संगठित श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ में तत्काल विलय कर इस गच्छ के मुनि गण ने अपने विचारों के ऊँचेपन और त्याग का परिचय दिया।

□□

परिशिष्ट : २

[प्रथमांश]

(१-२)

आचार्यो भूधरः स्वामी, विहारस्य चिकीर्षया।
मेड़ता - नाम-सत्पुर्याम्, कार्तिकस्यान्तिमे दिने॥
पौर्णमास्यां शुभाख्यानम्, प्रकाशयितुमुद्यतः।
सम्बोध्य धर्म-सत्साम्यान्, ब्रह्मचर्यस्य कीर्तनम्॥

(३-४)

ब्रह्मचर्य - प्रतिष्ठायाम्, वीर्यलाभो भवेदिति।
प्रारम्योद्धरणं धीरः, तत प्रोवाच सादरम्॥
कश्चित् सुदर्शनो नाम, श्रेष्ठी धर्मविदुत्तमः।
चम्पापुर्यां वसन्नासीत्, इतीदं सत्कथानकम्॥

(५)

सर्वो ध्यान-निमग्नः सन्, अशृणोन्नर-सद्गणः।
एतावतैव कालेन, जयमल्लः समागमत्॥

(६-७)

आचार्य - प्रवरस्तत्र, प्रोवाचौजस्विनी गिरम।
सुदर्शन इति ख्यातम्, नाम चक्रस्य निर्मलम्॥
अमोघ-वीर्यतच्चक्रम्, विष्णोः शस्त्रं प्रकथ्यते।
तन्नाम च दधच्छ्रेष्ठी, कथं स्यान्न सुदर्शनः॥

परिशिष्ट : २

[प्रथमांश]

(१–२)

आचार्य श्री भूधर जी महाराज ने, जो चातुर्मास-समाप्ति के बाद अन्यत्र विहार करना चाहते थे, कार्तिक के अन्तिम दिन—पूर्णिमा के दिन मेड़ता नगरी मे धार्मिक जनों को सम्बोधित कर ब्रह्मचर्य की गरिमा समझाने हेतु एक सुन्दर कथानक का वर्णन किया।

[द्वितीय परिशिष्ट के इस अंश मे यहाँ से ५३ वें श्लोक तक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है।]

(३–४)

"ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभ"—अपने मे ब्रह्मचर्य सुप्रतिष्ठ करने पर वीर्य-लाभ होता है—इसे उद्धृत कर उन्होंने बड़ी ऊँची भावना से गंभीरता पूर्वक बोलना प्रारम्भ किया।

चंपानगरी में सुदर्शन नामक एक सेठ रहता था। वह धार्मिक तत्वों का विशेष जानकार था। उसका जीवन बड़ा ऊँचा था। उसी से सम्बद्ध यह घटना है।

(५)

उपस्थित सभी लोग ध्यानपूर्वक कथानक सुनने लगे। इतने मे श्री जयमल्ल जी वहाँ आ गये।

(६–७)

आचार्य प्रवर का ओजस्वी वाणी मे प्रवचन चल रहा था। उन्होंने सुदर्शन शब्द की व्याख्या के संदर्भ मे कहा कि भगवान् विष्णु के चक्र का नाम भी सुदर्शन है, जो उसकी निर्मलता का सूचक है।

उस चक्र की शक्ति अमोघ—कभी व्यर्थ नहीं जाने वाली है। वह भगवान् विष्णु का उत्कृष्ट शस्त्र कहा जाता है। उसका नाम धारण करने वाला सेठ उसके अर्थ के अनुरूप क्यों नही सुदर्शन—सुन्दर दर्शन वाला होता अर्थात् वह सेठ अपने नाम के अनुरूप देखने में बड़ा सुन्दर एवं सौम्य था।

(८)

धर्म-वीरप्रचरितस्य, श्रेष्ठस्य नायको महान्।
अखण्ड-शील-धर्मस्य, पालको वज्रवद् दृढः॥

(९)

विष्णोः सुदर्शनं चक्रम्, यथा हन्ति निशाचरान्।
तथा सुदर्शनः श्रेष्ठी, जघान बहु-दुर्गुणान्॥

(१०-११)

काम-क्रोध-मदान् लोभान्, हिंसां भीरुत्वमेव च।
प्रतिग्रहमसन्तोषम्, असत्यं चौर्य-दुष्टते॥
हात्वैतान् दुर्गुणान् सर्वान्, स श्रेष्ठी गुणवान् सुधी।
सुधीरदाद्दरिद्रेभ्यः, धनाऽन्न-जल-भू-पटान्॥

(१२)

नित्यं पञ्च-नमस्कार-मन्त्र-ध्यान-परायणः।
प्रतिक्रमण-संलग्नः, पाप-कल्मष-दूरगः॥

(१३)

लक्ष्मी-शरीरसौन्दर्ये, संस्थातुं तस्य सन्निधौ।
कुरुतः स्म प्रतिस्पर्धाम्, अहमहमिकां सदा॥

(१४)

शेषशायीव लक्ष्मीवान्, कन्दर्प इव रूपवान्।
अवतारः स धर्मस्य, सदाचारस्य सम्मतः॥

(१५)

गैशाम्यां भान-पट्टाच्च, ब्रह्मचर्यं प्रशासते।
प्राच्यां बाल-रविः प्राप्तः, दिमित्याकलितं जनैः॥

(८)

वह धर्मवीर—धर्म-पालन मे परम शक्तिशाली था। उत्तम चरित्र का धनी था। अनवरत शील-धर्म का पालन करते रहने मे वह वज्र के समान सुदृढ़ था।

(९)

भगवान् विष्णु का सुदर्शन चक्र जैसे राक्षसो का वध कर डालता है, उसी प्रकार सुदर्शन सेठ ने बहुत से दुर्गुणों को नष्ट कर डाला।

(१०-११)

वह सद्गुणशील सेठ काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, हिंसा, कायरता, प्रतिग्रह—दूसरों से दान लेने की वृत्ति, असंतोष, असत्य, चोरी, दुष्टता आदि सभी दुर्गुणों का परित्याग किये हुए था। वह सद् विचारशील था। वह निर्धनों को धन, भूखों को अन्न, प्यासों को पानी, भूमिहीनो को भूमि तथा वस्त्रहीनों को वस्त्र बांटता था।

(१२)

वह सदैव पच परमेष्ठी नमस्कार रूप नवकार मन्त्र का ध्यानपूर्वक जप करता था। नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ अपने द्वारा कृत अशुभ कर्मों का प्रायश्चित्त करता था तथा धर्म-विरुद्ध कामो व पापों से सदा दूर रहने का प्रयत्न करता था।

(१३)

उसमें लक्ष्मी तथा दैहिक सुन्दरता, दोनो अहमहमिकया—लक्ष्मी कहती, मैं रहूँगी, सुन्दरता कहती, मैं रहूँगी, यो आपस मे मानो प्रतिस्पर्धा पूर्वक निवास करती थी।

(१४)

वह सेठ शेषनाग पर शयन करने वाले भगवान् विष्णु की भाति लक्ष्मीवान् था—भगवती लक्ष्मी भगवान् विष्णु की पत्नी है, सेठ सपत्ति के रूप मे लक्ष्मीपति था। वह कामदेव की तरह रूपवान् था। वह धर्म तथा सदाचार का मानों अवतार ही था।

(१५)

उसकी आँखों मे तथा ललाट पर ब्रह्मचर्य का तेज चमकता था। लोग जब उसे देखते तो ऐसा प्रतीत होता, मानो पूर्व दिशा मे प्रभात का सूर्य उदित हुआ हो।

(१६)

लक्ष्मीरिव गुणारम्या, पत्नी तस्य मनोरमा।
रति-कामाविवाभातां तौ, दम्पती रूप-शालिनौ॥

(१७)

यथोरसि मणी विष्णोः, तथा सभा-विभूषणौ।
सम्मानितौ च तौ सर्वैः, तत्सर्वैर्गुण-राशिभिः॥

(१८)

सुदर्शनस्य तत्पत्न्याः, शील - सौन्दर्य - चातुरी।
तुरीय वयते वस्त्रम्, यशः - कार्पास - सद्गुणैः॥

(१६)

चम्पापुर-पती राजा, दधिवाहन - नामभाक्।
सुदर्शनस्य सम्मानम्, कुरुते स्म गुण-प्रियः॥

(२०-२१)

तस्य प्रामाणिकत्वेन, चारित्र्य - निष्ठया धिया।
व्यावहारिक - कौशल्यात्, नागरिक - हितेच्छया॥
आन्वीक्षिक्याश्च वार्तायाः, दण्ड - नीतेस्तथैव च॥
दधिवाहन - भूपेन, पुर-श्रेष्ठी स घोषितः॥

(२२)

कपिलो नाम तस्यासीत्, मित्रं कश्चित् पुरोहितः।
भिन्न-देहेऽपि जीवात्मा, तस्यासीत्तेन संयुतः॥

(२३-२४)

श्रेष्ठिनस्तत्र विश्वासः, आसीत् सर्व-प्रकारकः।
रहस्यं तस्य नाऽज्ञातम्, श्रेष्ठिनश्च मिथस्तयोः॥
परस्परं सुयुञ्जानौ, अश्विनाविव सङ्गतौ।
वर्ण-भेदेऽपि चात्मैक्यम्, तयोरासीत् सुरक्षितम्॥

(१६)

सुदर्शन सेठ की पत्नी का नाम मनोरमा था। वह लक्ष्मी के सदृश सौभाग्यवती व लावण्यवती थी। यदि ऐसा कहे तो अतिरंजन नहीं होगा, दोनों पति-पत्नी रति और कामदेव की तरह सौन्दर्यशाली थे।

(१७)

भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल पर जैसे कौस्तुभ और स्यमन्तक नामक मणियां सुशोभित होती हैं, उसी प्रकार वे दोनो चंपानगरी के आभूषण थे, सर्वथा सुशोभित थे। वहाँ के गुणानुरागी नागरिकों द्वारा वे दोनो सम्मानित-समादृत थे।

(१८)

सुदर्शन और उसकी पत्नी मनोरमा की सच्चरित्रता, सुन्दरता तथा चतुरता करघे की तरह उनके सद्गुण रूपी धागों से यशरूपी वस्त्र बुनती थी अर्थात् वे दोनों पति-पत्नी सच्चरित्र, सुन्दर, चतुर तथा सद्गुणशाली थे, जिससे सर्वत्र उनका यश फैला था।

(१९)

चंपा नगरी के राजा का नाम दधिवाहन था। वह बड़ा गुणग्राही था, सुदर्शन का बहुत आदर करता था।

(२०–२१)

सुदर्शन की प्रामाणिकता, चरित्रनिष्ठा, बुद्धिमत्ता, व्यवहार-कुशलता तथा नागरिकों की हित-कांक्षा, गहरी सूझ-बूझ, धर्म-अधर्म का सम्यक् परिचय—अर्थ अनर्थ की पहचान, प्रशासन-कौशल—इन विशेषताओं के कारण राजा दधिवाहन ने उसे नगर-सेठ घोषित किया—नगर सेठ की उपाधि से विभूषित किया।

(२२)

कपिल नामक पुरोहित सुदर्शन का मित्र था। उन दोनों की इतनी घनिष्ठता थी कि उनके शरीर भिन्न-भिन्न थे किन्तु दोनों के अन्तरतम परस्पर जुड़े थे।

(२३–२४)

सेठ का कपिल पर पूर्ण विश्वास था, उसी प्रकार कपिल का सेठ पर। दोनों की ऐसी कोई गोपनीय बात नहीं थी, जो वे परस्पर न जानते हों। वे दोनों सहोदर अश्विनीकुमारों की तरह सदा साथ साथ रहते थे। यद्यपि दोनों की जाति एक नहीं थी पर उनकी आत्माएँ मानो एक थीं अर्थात् दोनों में अति घनिष्ट आत्मीयता थी।

(२५-२६)

तद्विरुद्ध-स्वभावाऽऽसीत्, कपिलस्य कुटुम्बिनी ।
कुमार्या विषया सक्ता, पति-वंश-कलङ्किनी ॥
विश्वास-घातिनी छद्म-छिद्रान्वेषि-कुलाङ्गना ।
पांसुलाना पुरोगण्या, सर्वदाऽपति-प्रिया ॥

(२७)

सुवर्णाऽपि कुवर्णाऽऽसीत्, दुःशीला दुर्भगाऽङ्गना ।
तस्या दुर्व्यवहारेण, कपिलोऽभूत् सुदुःखितः ॥

(२८)

रूप-सौम्य-गुणान् दृष्ट्वा, सुदर्शन-महात्मनः ।
तस्य साऽऽकृष्ट-चित्ताऽभूत्, तन्न केनाऽपि लक्षितम् ॥

(२९)

एकदा प्रोषिते पत्यौ, कन्दर्प-दाह-पीडिता ।
मिषेण रुग्णतायाः सा, दास्या श्रेष्ठं समाह्वयत् ॥

(३०-३१)

सुदर्शने समायाते, भिया दास्या पिधापितम् ।
द्वारं सर्वदि गेहस्य, दृष्ट्वैतत् स व्यचिन्तयत् ॥
अत्र किञ्चिद् रहस्यं स्यात्, यदेषा वरुणद्धि माम् ।
हृदये तस्य सोऽच्छभावः, शीघ्रं बोद्धुं प्रचक्रमे ॥

(३२)

यावदभ्यन्तरं मित्रम्, गत्वा स समुपाविशत् ।
तावत् स मित्र-भार्याम्, दृष्ट्वा मनस्यचिन्तयत् ।

(२५-२६)

कपिल की पत्नी का स्वभाव अपने पति के सर्वथा विपरीत था। वह दुराचारिणी थी। उसका मन सदा विषय-वासना में लगा रहता था। अपने दुःशील से पति के उज्ज्वल वंश में वह कलंक लगाने वाली थी, विश्वासघातिनी थी। दुराचरण-पोषण के हेतु वह षड्यन्त्र, छल-छिद्र आदि कुकृत्यों में लगी रहती थी, वह कुलक्षणा थी, चरित्रहीन नारियों में अग्रगण्य थी और सदा पर-पुरुष की कामना करती रहती थी।

(२७)

वह सुवर्णा—सुन्दर आकृतियुक्त—रूपवती होते हुए भी कुवर्णा—कुत्सित आचरण युक्त—दुराचारिणी थी। यही उसका दुर्भाग्य था। उसके दूषित व्यवहार से उसका पति कपिल सदा दुःखी रहता था।

[यहाँ विरोधाभास अलंकार है। सुवर्णा और कुवर्णा में परस्पर विरोध जैसा प्रतीत होता है पर अर्थ की गहराई में जाने पर विरोध अभिव्यंजना के चमत्कार में परिणत हो जाता है।]

(२८)

सुदर्शन का रूप एवं उत्तमोत्तम गुण देखकर वह उस पर मोहित हो गई। किसी को भी यह मालूम नहीं पड़ने दिया।

(२९)

एक दिन उसका पति कपिल कार्यवश कहीं बाहर (अन्य ग्राम) गया हुआ था। वह कामाग्नि से पीड़ित हो रही थी। उसने पति के बीमार होने का झूठा बहाना बनाकर दासी द्वारा सुदर्शन को अपने यहाँ बुलाया।

(३०-३१)

सुदर्शन आया। दासी ने भयभीत-सी हो फौरन घर का दरवाजा बन्द कर लिया। सेठ ने सोचा—यह दासी मुझे बन्द कर रही है, हो न हो, यहाँ दाल में कुछ काला है। आकस्मिक चिन्ता के कारण उसका साँस तेजी से चलने लगा।

(३२)

यह सोचकर कि मेरा बीमार मित्र कपड़ा ओढ़े सो रहा है, वह पास आया। जब कपड़ा हटाया तो देखा—मित्र की पत्नी सोयी पड़ी है। वह आश्चर्य-मिश्रित चिन्ता से व्यग्र हो उठा।

(३३-३४)

आनने कामनागस्य, भातं नृत्यलामुखम् ।
मेघोन्मादगनङ्गेन, गतोहितमनोज्ञ गः ।
ज्ञान-चक्षुर्मिर्गं त्वम्, मत्वा स्यातु निरीन्द्रियः ।
इत्यस्मात्स सोऽपश्यत्, सिंहाज यान्त - गजो यथा ॥

(३५-३८)

स्पष्टो विश्वास-घातोऽयम्, मैत्रीमुद्दिश्य मामकीम् ।
विषयासक्त - नारीयम्, मन्ये शील-धनं महत् ॥
मुष्णितुं च दुस्साहम्, कर्तुं धूर्ता समुद्यता ।
एतदेव हि वैचित्र्यम्, नवीनमनुभूयते ॥
पुरुषा एव नारीणाम्, शीलं चारित्रं महत् ।
अपघ्नन्ति स्वभावेन, सर्वैतन्नः श्रुतं कटु ॥
किन्त्वद्य वैपरीत्यं तद्, मय्येव सम्भविष्यति ।
नैवं कदापि लोकेऽस्मिन्, स्वप्नेऽपि चिन्तितं मया ॥

(३९)

इत्थं दृष्ट्वा स दुर्नारीयम्, समारभत चिन्तितुम् ।
मन्ये शून्ये गृहे धर्षेत्, मां मित्रस्याऽनुपस्थितौ ॥

(४०)

यद्यप्यस्त्यत्र विश्वास - घातस्तथापि दृश्यताम् ।
प्रत्युत्पन्न - मति मह्यम्, भगवान् सम्प्रदास्यति ॥

(४१-४३)

मित्र - पत्नी गुरोर्दाराः, राजदाराः स्व-जन्मदा ।
श्वश्रूश्चैताः स्त्रियः पञ्च, मातरः परिकीर्तिता ॥
संयच्छेद्यस्तु एताभिः, स नरः पातकी भवेत् ।
यो जनः पर - नारीषु, मातृवच्छ्रद्दधाति चेत् ॥
पर-स्वं च स्वका विष्ठाम्, सर्व-जीवेषु चात्मवत् ।
प्रपश्यञ्छ्रद्दधानश्च, स्वर्गे लोकेऽपि पूज्यते ॥

(११-१४)

सुदर्शन ने देखा—उस नारी के मुख पर कामोत्ताप का उग्र भाव नाच रहा था। उसकी आँखें काम के उन्माद से लाल हो रही थीं। जाल में बंधे हिरण की तरह उसने अपने को षड्यन्त्र में फंसा हुआ समझा। वह व्याकुलता से इधर-उधर देखने लगा। उस समय उसकी दशा उस हाथी जैसी थी, जिस पर सिंह ने आक्रमण कर दिया हो।

(१५-१८)

वह मन ही मन सोचने लगा—यह तो स्पष्ट विश्वासघात है। अपने पति के साथ रही मेरी मित्रता का अनुचित लाभ उठाकर यह विषय-वासना से उन्मत्त, धूर्त नारी मेरा ब्रह्मचर्य रूप महत्त्वपूर्ण धन लूटने का दुःसाहस करना चाहती है। यह तो एक नई और विचित्र बात है। अब तक यही कटु सत्य सुना जाता रहा है, पुरुष ही स्त्रियों के शील—पतिव्रत पर आक्रमण करते हैं पर आज तो उसके विपरीत देख रहा हूँ। मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि मेरे साथ लोक में कभी ऐसा घटित होगा।

(३९)

यह दूषित नाटक देखकर सुदर्शन सोचने लगा—संभव है, सूने घर में मित्र की अनुपस्थिति में मुझे यह लाञ्छित करे।

(४०)

यद्यपि यह घोर विश्वासघात का प्रसंग है, पर आशा है, भगवान् मुझ में इसका प्रतिकार करने की बुद्धि इसी क्षण जगायेंगे।

(४१-४३)

मित्र की पत्नी, गुरु की पत्नी, राजा की पत्नी, जन्म देने वाली जननी और सास—ये पाँचों माताएँ कही गई हैं। जो इनके साथ विषय-सेवन करता है, वह पापी होता है।

जो मनुष्य पर-स्त्री को माता तथा पर-धन को विष्ठा के सदृश समझता है, सब प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य मानता है, वह लोक में तथा स्वर्ग में सम्मान पाता है।

(५)

[illegible],
[illegible] नरदेव-नारी।
[illegible],
[illegible] ॥

(६)

[illegible]
[illegible]।
[illegible],
[illegible] ॥

(७)

[illegible],
[illegible]।
[illegible],
[illegible] ॥

(८)

[illegible],
[illegible]।
[illegible],
[illegible] ॥

(१०)

[illegible]

(५)

रानी ने जो जो सैंकडो प्रयत्न किये, उसमे वह विफल होती गई पर वह रुकी नहीं, नये-नये जाल गूँथती गई।

(६)

रानी अभया द्वारा कुबुद्धिपूर्वक किये गये सभी प्रयत्न मानो गढ्ढे मे गिरते गये, ध्वस्त होते गये। एक बार दुष्टतापूर्ण जाल मे फँसा—धोखा खाया हुआ बुद्धिमान् पुरुष दुबारा कुलटा के चक्र मे नही आता।

(७)

स्त्री का स्वभाव बिल्ली जैसा होता है। जिसे वह पाना चाहे, यदि वह वस्तु प्राप्य न हो तो वह उसे नष्ट कर डालने हेतु सैंकडो प्रयत्न करती है। बडा आश्चर्य है, स्त्री के चरित्र मे कितनी विध्वंसकता है।

(८)

आकाश को नापने वाले पक्षी अथवा तारो की गति जैसे दुर्ज्ञेय स्त्री-चरित्र को कौन जान सकता है।

रानी ने जब देखा कि उसके सभी प्रयत्न विफल होते आ रहे हैं तो उसने अपनी दासी के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की कि सुदर्शन को बाँधकर यहाँ ले आना चाहिये।

(९-१०)

एक दिन रानी ने अपनी प्रमुख दासी को बुलाया। उसके साथ गुप्त मन्त्रणा की। अपनी कामाग्नि शान्त करने हेतु उसने सुदर्शन को बाँधकर या और किसी तरह लाने के लिये दासी के साथ चार बलवान् पहलवानों को मिलाया। क्योंकि साम, दाम और भेद के बाद अब दण्ड या बल-प्रयोग का उपाय ही बाकी रह गया था।

(११)

सा प्रेरिता मानस - सिद्धि - दक्षा,
[illegible] - पौषीन प्रतिमा गेहम् ।
[illegible] पुंभिः प्रच्छादनाभिः,
[illegible] तं हतुं मिषेण रानी ॥

(१२-१३)

योगैः गुप्तैः नगरे ह्यवाप्तो,
पुत्तक - मानुषे - कृत - प्रयत्ना ।
सा दासिका त्यक्त - समस्त - लज्जा,
स्व-स्वामिनीष्टाप्ति-कृत - प्रयासा ॥
पुरुष्ट - साध्यादि - कुबीजकादि,
सज्जीकृत - श्रेष्ठ - गुण - प्रकोष्ठा ।
गृहीत - मुण्डाक - चतुष्टयेष्टा,
सुदर्शनस्येष्ट - गृहं प्रविष्टा ॥

(१४-१५)

सुदर्शनः पौषध - कर्म - निष्ठः,
समाधि - संस्थश्च कृतोपवासः ।
विच्छिन्न - देहेन्द्रिय आत्मनिष्ठः;
विरक्त - शारीरिक - सर्व - चेष्टः ॥
श्रीमन्महावीर - पदारविन्द—
स्वाभाविक-ध्यान - निविष्ट - चित्तः ।
निवृत्त - सांसारिक - वृत्ति - वृन्दः,
आसीत् स पद्मासन - सूपविष्टः ॥

(१६)

एतादृशी सुस्थितिमाभजन्तम्,
सुदर्शनं सं निगडं प्रबध्य ।
मल्लैश्चतुर्भी रहसि व्यपोह्य,
केनाऽप्यविज्ञातमनेष्ट दुष्टा ॥

(११)

वह दासी साधन जुटाने तथा कार्य साधने मे बड़ी निपुण थी। उसने योजना बनाई—रात्रि मे चार बलिष्ठ पुरुषो के साथ चतुराई से सेठ के घर मे घुसकर, उसे बांध कर उसका अपहरण कर लिया जाना चाहिए।

(१२-१३)

वह दासी जाल गांठने में बड़ी चालाक थी। उसने सभी प्रकार की तैयारी कर ली। वह मात्र यही चाहती थी, किसी भी तरह अपनी मालकिन की इच्छा-पूर्ति करू इसलिए उसने सारी लाज-शर्म ताक पर रख दी थी। उसने अपना कुत्सित लक्ष्य साधने हेतु अपेक्षित सभी उपयुक्त साधन जुटाकर योग्य तथा अनुकूल अवसर जानकर एक रात को चार बदमाशों के साथ सुदर्शन के सुन्दर घर मे प्रवेश किया।

(१४-१५)

सुदर्शन के उस दिन उपवास था। वह पौषध—साधुतुल्य एक दिवसीय चर्या मे था देह तथा इन्द्रियो से अपना चित्त हटा, सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं से परे हो, वह आत्मनिष्ठ कि वा या समाधिनिष्ठ था।

वह पद्मासन मे अवस्थित था। सांसारिक वृत्तियों से निवृत्त था। उसका चित्त सहज रूप मे भगवान महावीर के चरण-कमलो के ध्यान मे लगा था।

(१६)

ऐसी पवित्र स्थिति मे विद्यमान सुदर्शन को वहाँ एकान्त में उन चारों पहलवानो ने रस्सो से कसकर बांध लिया और किसी को भी पता न चले, इस प्रकार गुप्त रूप से उसे वहाँ से उठा लिया।

(१७)

[illegible]

(१८)

[illegible]

(१९)

सा [illegible] प्रविष्टा,
[illegible] श्रुतिः।
[illegible]
[illegible] प्राणायनगम् ॥

(२०)

निमेष - हीनेन दृगिन्द्रियेण,
दुष्प्रर्षेव स्वां हि सुदर्शनस्य।
स्वकीय - सत्तां खलु विस्मरन्ती,
तत्याज पूर्वादि - दिशा प्रबोधम् ॥

(२१)

संज्ञां शनैः ध्यानि निनीय चेताम्,
सञ्चित्य विज्ञान - कणान् पुनः सा।
श्रेष्ठस्य पादाब्ज - रजः - कणेषु,
शिरो नमन्तीदमुवाच दीनम् ॥

(१७)

विस्मयोन्माद—मुग्धमन की अवस्था के मद से अन्धी बनी वह दासी सुदर्शन को राजमहल में ले आई, उसे रानी के पास हाजिर कर दिया, रानी की आज्ञा से स्वयं जाने पर चली गई।

(१८)

जिसके सर्वातिशायी सौन्दर्य से करोड़ों कामदेव लज्जित हो जाएँ, जो परमानन्द-मग्न था, उस सुदर्शन पर ज्यों ही रानी की दृष्टि पड़ी, कामातुर हो उठी।

(१९)

काम-बाण से बिंधी रानी की दृष्टि उस पर मानो गड़ गई, हजारों कामदेव के अहंकार को ध्वस्त कर देने वाले, कमल की कोमलता भी जिसके समक्ष परास्त थी, ऐसे सुदर्शन की रूप-माधुरी का अनवरत पान करती गई।

(२०)

वह निर्निमेष—अपलक नेत्रों से सुदर्शन का सौन्दर्य देखती हुई अपना अस्तित्व ही मानो भूल गई और न उसे पूर्व आदि दिशाओं का ही कुछ ज्ञान रहा।

(२१)

अपनी खोई हुई चेतना को धीरे-धीरे पुनः प्राप्त कर तथा ज्ञान के कणों को बटोर कर—होश में आ सेठ के चरण-कमलों की धूलि में अपना मस्तक झुकाती हुई वह दीनतापूर्ण वचन बोली।

(१७)

[illegible] राज्ञी,
[illegible] ।
[illegible] -
[illegible] ॥

(१८)

[illegible] विपुल - शील - भव्यम्,
सौन्दर्य - [illegible]-कोटि - कामम् ।
दृष्ट्वा गुणानस्य [illegible],
[illegible] ॥

(१९)

सा मन्मथेषु - प्रगमं प्रविष्टा,
राज्ञी चिरं श्रेष्ठि-निविष्ट-दृष्टिः ।
मनुष्य - कन्दर्प - मदघ्न - दत्त-
सरोजशोभं प्रपपावजस्रम् ॥

(२०)

निमेष - हीनेन दृगिन्द्रियेण,
दृष्ट्वैव रूपं हि सुदर्शनस्य ।
स्वकीय - सत्तां खलु विस्मरन्ती,
तत्याज पूर्वादि - दिशां प्रबोधम् ॥

(२१)

संज्ञां शनैः ख्यानि निनीय बीताम्,
सञ्चित्य विज्ञान - कणान् पुनः सा ।
श्रेष्ठस्य पादाब्ज - रज - कणेषु,
शिरो नमन्तीदमुवाच दीनम् ॥

(१७)

विजयोन्माद—कुप्रयत्न की सफलता के मद से अन्धी बनी वह दासी सुदर्शन को राजमहल में ले आई, उसे रानी के पास हाजिर कर दिया, रानी की आज्ञा से स्वयं अपने घर चली गई।

(१८)

जिसके अपरिसीम सौन्दर्य से करोड़ों कामदेव लज्जित हो जायें, जो परमात्म-भक्त था, उस सुदर्शन पर ज्यों ही रानी की दृष्टि पड़ी, कामातुर हो उठी।

(१९)

काम-बाण से बिंधी रानी की दृष्टि उस पर मानो गड़ गई, हजारों कामदेव के अहंकार को ध्वस्त कर देने वाले, कमल की कोमलता भी जिसके समक्ष परास्त थी, वैसे सुदर्शन की रूप-माधुरी का अनवरत पान करती गई।

(२०)

वह निर्निमेष—अपलक नेत्रों से सुदर्शन का सौन्दर्य देखती हुई अपना अस्तित्व ही मानो भूल गई और न उसे पूर्व आदि दिशाओं का ही कुछ भान रहा।

(२१)

अपनी खोई हुई चेतना को धीरे-धीरे पुनः प्राप्त कर तथा ज्ञान के वस्त्रों को बटोर कर—होश में आ सेठ के चरण-कमलों की धूलि में अपना मस्तक झुकाती हुई वह दीनतापूर्ण वचन बोली।

(२२)

भो रूप - विलोल ! पुनीहि दासीम्,
इमां त्वदीयामधरामृतं ते ।
प्रदाय माञ्च धाय मरिष्यमाणाम्,
उज्जीव्य पुण्यं समुपार्जयेत् ॥

(२३)

मया रमस्व स्वकामाप्त सौन्दम्,
स्वर्गीयमस्ते निज - तुच्छ - दास्यं ।
आलिङ्गनेन प्रणिदर्शि सौन्दम्,
तोषं स्वयं तावय नेज - दासीम् ॥

(२४)

उन्मील्य नेत्रे च विलोकय मां स्वाम्,
दासीमनङ्गेषु - विलिप्यमानाम् ।
[illegible]
[illegible]

(२५)

[illegible]

(२६)

[illegible]

(२७)

[illegible]

(२२)

हे रूप-वैभव के स्वामी ! अपनी मरणोन्मुख दासी को अपने अधरामृत द्वारा जीवन-दान दो, कृतकृत्य बनाओ, पुण्य अर्जित करो ।

(२३)

मेरे साथ रमण करो, सुख भोगो । अपनी तुच्छ दासी को आलिङ्गन द्वारा स्वर्गोपम सुख-प्रदान करो । स्वयं तृप्ति अनुभव करो, मुझे भी तृप्ति दो ।

(२४)

कामदेव के बाणों से बिंधी जाती अपनी दासी को आँखें खोलकर देखो तो सही । तुम मेरी उपेक्षा कर रहे हो । मैं तुम्हारे बिना मर रही हूँ । अपनी अमृतमयी दृष्टि से मेरी प्राण-रक्षा करो ।

(२५)

यदि तुम मेरा कार्य साधोगे तो चम्पा नगरी का निर्दोष, निर्विघ्न, निर्भय, सर्वसत्ता सम्पन्न राज्य प्राप्त करोगे । यह विपुल सुख प्राप्त करो न ।

(२६)

दुःशीला रानी अभया द्वारा यों प्रणय-निवेदन किये जाने पर भी सुदर्शन ने न उसकी ओर देखा तथा न वह कुछ बोला ही । वह आकाश की तरह निश्चल एवं हिमालय की तरह अडिग रहा । ध्यान में, आत्ममयता में वह ऐसा लीन था, मानो तथागत बुद्ध हो ।

(२७)

अभया ने जब यह देखा तो वह पैरों से रौंदी साँपिन की तरह क्रोध से फुंकार करती हुई जहर उगलने लगी । वह बोली—सेठ ! मेरी बात नहीं मानोगे तो समझ लो, तुम्हें घोर कष्ट झेलना होगा ।

(२८)

किं कष्टमत्र प्रभवेदवर्ण्यम्,
समूलघातं तव वंश - नाशः ।
दाराः सुतास्तेऽपि तवास्य दोषात्,
यमालयस्याऽतिथयो भवेयुः ॥

(२९)

असह्य - कष्टेन मरिष्यसि त्वम्,
गमिष्यसि श्वेव तदन्तकत्वम् ।
उत्कृत्य चर्म प्रविकीर्य रक्तम्,
गोमायु - गृध्रास्तव मांसमद्युः ॥

(३०)

श्रुत्वाऽपि राज्ञ्या वचनानि तानि,
प्रलोभनीयानि विभीषणानि ।
तथापि मौनं स दधच्छिलेव,
शील - व्रतं श्रेष्ठतमं हि मेने ॥

(३१)

धनं गतञ्चेत् पुनरभ्युपैति,
स्वास्थ्यञ्च पथ्यादि - निषेवणेन ।
देहोऽपि जन्मान्तर - लभ्य एव,
शीलं गतञ्चेत् पुनरेति नैव ॥

(३२)

विचिन्तयन् चेतसि शील - रक्षाम्,
इत्थं स आस्ते न समुत्पपात ।
यद् भावि तद् सम्भवतु प्रकामम्,
सद्धर्म - वीरा न निजं त्यजन्ति ॥

(३३)

वयं परेऽस्मृत्यवशा कदाचित्,
स एव नरेन्द्र च दुष्ट - वध्य ।
सुरक्षितो रक्षति धर्म - सेवा,
धर्मो हतो हन्ति हत स्वधर्मम् ॥

(२८)

तुझे कैसा कष्ट होगा, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। तो भी सुन लो तेरे सारे वश का मूलोच्छेद हो जायेगा। तेरे इस अपराध से तेरी स्त्री, तेरे पुत्र—सबके सब मौत के घाट उतार दिये जायेंगे।

(२९)

तुम असह्य वेदना के साथ कुत्ते की मौत मारे जाओगे। तुम्हारी चमडी उधेड दी जायेगी, तुम्हारा खून इधर उधर बिखेर दिया जायेगा, तुम्हारा माँस गीदड और गीध खायेंगे।

(३०)

सुदर्शन रानी के अत्यन्त लुभावने तथा अत्यधिक भयावने वचन सुनकर भी विचलित नही हुआ। वह पत्थर की तरह चुपचाप बैठा रहा। शीलव्रत ही जीवन मे सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, उसकी यह दृढ निष्ठा थी।

(३१)

यदि धन चला जाए तो फिर आ सकता है। स्वास्थ्य चला जाए तो वह भी औषध, पथ्य आदि के सेवन से फिर लौट सकता है—सुधर सकता है, शरीर चला जाए तो वह भी अगले जन्म मे फिर प्राप्त हो सकता है, यदि शील चला जाये तो वह फिर कभी नही लौटता।

(३२)

सुदर्शन ने अपने मन मे शील-रक्षा के सन्दर्भ मे विशेष चिन्तन करते हुए अपना मुँह नही खोला—वह सर्वथा चुप रहा।

जो होना है, वह हो, धर्मवीर धर्म के पथ से तिल मात्र भी विचलित नहीं होते हैं।

(३३)

यदि मिट्टी का घडा वज्र पर गिरे तो वह घडा ही नष्ट होगा, सुदृढ़ वज्र का कुछ नहीं बिगडेगा। यही बात सुदर्शन के साथ थी। वह तो वज्र की तरह दृढ था। उस पर मिट्टी के घडे जैसे कच्चे प्रलोभन तथा भय क्या असर करते। वास्तव मे जो धर्म के अल्पांश को भी सुरक्षित रखता है, धर्म सदा उसकी रक्षा करता है। जो धर्म का हनन करता है, स्वयं उसका नाश हो जाता है।

(३४-३५)

इत्थं स शीलस्य सदुत्तमस्य,
महामणेरर्घ्यतमस्य भावम् ।
अमेल्य - रत्नस्य परं प्रभावम्,
जानन् सुशीलस्य सुपावनस्य ॥

सुरक्षणार्थं दृढ - निश्चयस्य,
धर्म्यं च पन्थानमसावतिष्ठत् ।
तस्याः कुराज्ञ्याः कुमतामनुज्ञाम्,
चिक्षेप पादेन यथा कुचक्रम् ॥

(३६)

साऽधिक्षिपन्तीत्यमनुत्तरं तम्,
पराजिता तेन कुकृच्छुनीव ।
उच्चैररवुक्कन्नरराज - हर्म्ये,
श्वाऽयं ममाऽङ्गानि समीप्सतीति ॥

(३७)

श्रुत्वा विरावं नृप - गेहपालाः,
तत्राऽऽययुः शीघ्रमभिद्रवन्तः ।
ज्ञात्वेति - वृत्तं महिषी - प्रघुष्टम्,
बद्ध्वैनमानिन्युरथो नृपाऽग्रे ॥

(३८)

श्रेष्ठं विलोक्यैवमुपागतं तम्,
नृपो महाऽऽश्चर्यममन्यताऽद्धा ।
अजानदेनं सुचरित्र - शीलम्,
श्रेष्ठोऽयमीदृङ् न कुकर्म कुर्यात् ॥

(३९)

अनेन दुष्कृत्यमिदं किमर्थम्,
कृतं न पश्यामि खलु प्रमाणम् ।
इयं मनुष्यस्य ननु प्रवृत्तिः,
स्वभाव - सिद्धा ननाम स्वमार्गात् ॥

(३४-३५)

परम उत्तम तथा पवित्रशील जैसे सर्वाधिक मूल्यवान् अथवा अमूल्य—जिसका कोई मूल्य ही न हो सके, रत्न की विशेषता जानते हुए उसकी रक्षा का दृढ़ निश्चय किये वह धर्म के पथ पर सुस्थिर रहा। उस दुष्ट रानी की कुत्सित प्रणय-प्रार्थना को उसने कुचक्र की तरह पैर से ठुकरा दिया।

(३६)

जब रानी की धमकियों का सुदर्शन ने कोई उत्तर नहीं दिया तो रानी ने इसमें अपनी पराजय मानी। एक दुष्ट कुतिया की तरह जोर-जोर से भौंकती सी वह चिल्लाई—यह कुत्ता मेरी इज्जत लूटना चाहता है।

(३७)

राजमहल के द्वारपालों ने जब यह चिल्लाहट सुनी तो वे दौड़ते हुए शीघ्र वहाँ आए। रानी द्वारा बताया गया वृत्तान्त उन्होंने जाना और वे सुदर्शन को बांध कर राजा के पास ले आये।

(३८)

सेठ को अपने समक्ष उपस्थित देख राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। राजा सुदर्शन की सच्चरित्रता को जानता था। अतः उसे यह विश्वास नहीं होता था कि सुदर्शन सचमुच ऐसा कुकर्म करने को उद्यत हुआ हो।

(३९)

राजा सोचने लगा—ऐसा चरित्रशील व्यक्ति ऐसे दूषित कृत्य के लिए कैसे उतारू हुआ! कुछ समझ में नहीं आता। यद्यपि एक साधारण मनुष्य की यह स्वाभाविक जैसी प्रवृत्ति है परन्तु सुदर्शन में ऐसा कभी नहीं देखा।

(४०)

तमापि विचार-मुखं न विज्ञित्,
प्रश्नोत्तरं नानु [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible]-[illegible],
अहो ! तत्र दैव-[illegible]॥

(४१)

एवं गुणस्तोऽपि भिन्न-भिन्नाम्,
विचार-धारा प्रसमुद्भवन्तीम्।
श्रावं सुबुद्ध्याः प्यनुभूय विज्ञान्,
सुनीति-शास्त्रं न जगाम पारम्॥

(४२)

चिन्ता-समुद्रस्य तरङ्गितस्य,
मुक्तारत्नं नोनिर्गतमाप्तम्।
गल्प-प्रमाणं ह्यभिमन्यमानः,
नृपः सभायां घटना पप्रच्छ॥

(४३)

पृष्टोऽपि राज्ञा दत्तो न कश्चित्,
जगाद शब्दं मुक्तो विपश्चित्।
अग्रे समग्राग्रज-नागराणाम्,
ईशो गिरीणामिव सोऽवतस्थे॥

(४४-४६)

परिस्थितिं तामवलोक्य राजा,
तथाविधां दुर्घिया नयज्ञः।
मा मे स्म भूदेवमदण्ड्य-दण्ड-
प्रदापनं दण्ड्य-जनेष्वदण्डः॥

अदण्डयन् दण्ड्य-जनान्नृपालः,
दण्ड-प्रयोक्ता च जनेऽप्यदण्ड्ये।
केनाऽपि भावेन स पक्षपाती,
पतत्यनन्ते नरकेऽति-घोरे॥

(४०)

जैसी जो बात उपस्थित की गई है, उसे देखते विश्वास रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। इससे पहले तो इसका आचरण बहुत अच्छा था। परन्तु क्या कहा जाए, दैवगति बड़ी विचित्र है।

(४१)

इस तरह राजा के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की विचारधारा उत्पन्न हो रही थी। बहुत सूक्ष्मतापूर्वक वह विज्ञ राजा उन पर चिन्तन करता रहा पर किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाया।

(४२)

विविध शंका-प्रशंका की तरंगों से समाकुल चिन्ता के सागर को पार करने के लिए सेठ को ही विश्वस्त, सत्य-प्रमाण रूप जहाज मानकर राजा ने सभा में उससे वास्तविक घटना पूछी।

(४३)

नगर के सभी सम्भ्रान्त नागरिकों के समक्ष आदरपूर्वक राजा द्वारा पूछे जाने पर भी विज्ञ सुदर्शन अपने मुँह से कुछ नहीं बोला। पर्वतराज हिमालय की तरह वह स्थिर, शान्त खड़ा रहा।

(४४-४६)

वैसी उलझी हुई जटिल परिस्थिति देखकर नीति-कुशल राजा मन ही मन सोचने लगा—मेरे द्वारा कोई अदण्डनीय—जो दण्ड योग्य नहीं है, कहीं दण्डित न हो जाय, जो दण्ड योग्य है, वह अदण्डनीय न रहे। जो राजा दण्ड देने योग्य व्यक्तियों को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीय को दण्ड देता है, वह किसी रूप में पक्षपाती है। वह अन्तरहित घोर नरक में गिरता है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

□□

यों विचार कर राजा उस दिन कुछ नहीं बोला। उसने दरबार में उपस्थित जनों से कहा कि रात्रि में मैं इस विषय पर चिन्तन-मनन करूँगा, कल प्रात इसका निर्णय दूँगा।

(४७)

नीति-शास्त्र के गहन तत्त्वों का मर्मज्ञ, न्याय-वेत्ता, आप्त—जिनके वचन पर श्रद्धा एवं विश्वास करते हैं, ऐसे लोगों में अग्रगण्य राजा जन समूह के बीच उपर्युक्त समुचित घोषणा कर मानसिक दृष्टि से सुस्थिर हो गया तथा न्याय-नीति के विधि-विधान के गहन चिन्तन में लग गया।

[इस पद्य में मालिनी छन्द है।]

□□

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ।

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥

([illegible])

[illegible],
[illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥

(६)

केवल चम्पा के नागरिक ही नहीं, समीपवर्ती और दूरवर्ती अन्यान्य स्थानों के लोग भी सुदर्शन के सम्बन्ध में घोषित होने वाले निर्णय को जानने की उत्सुकता लिये वहाँ आये।

(७)

इस प्रकार आये हुए सैकड़ों-हजारों लोगों से राज-सभा खचाखच भर गई। इतने में राजदण्ड लिये राजा दधिवाहन का सामन्तों के साथ राजसभा में आगमन हुआ।[1]

(८-९)

राजा की आज्ञा पाकर राजपुरुष सुदर्शन को राजसभा में शीघ्र उपस्थित करने को तत्पर हुए।

देव, मनुष्य, नये-नये अतिथि जन यह जानने की उत्सुकता लिये कि धर्मिष्ठ सुदर्शन के साथ ईष्ट या अनिष्ट—क्या घटित होगा, पारिवारिक जन, स्त्री, पुत्र आदि सहित वहाँ आये हुए थे।

(१०)

राजपुरुष सूर्य के समान तेजोमय पुण्य-प्रताप युक्त, चाँद सदृश निर्मल—शील तथा धर्म युक्त, परम धर्मात्मा, सम्यक्त्व रूपी बाण द्वारा पाप-निवारक, प्रियदर्शन, चन्द्रमा के समान मुखकान्त सुदर्शन को राजसभा में ले आये।

---

१. प्राचीन काल में राजा द्वारा राजसभा में [illegible] होता [illegible] करने वाला सर्वे-सर्वा, वही [illegible] राजसभा का [illegible] होता था।

(१७)

[illegible] [illegible] स [illegible] गुरुगंभः,
[illegible] [illegible] - [illegible]।
[illegible] [illegible] हृदा न [illegible] ह,
न तु [illegible] ददर्श [illegible]॥

(१८)

स तु शिला - [illegible] - प्रतिमूर्तिवत्,
[illegible] - नेत्र - समाधिग - योगिवत्।
स्थिर - [illegible] - संस्थित-सिद्धवत्,
न च चचाल चिर - स्थिरतामयन्॥

(१९)

नृप उदीक्ष्य तदाऽस्थितमादितः
सममुपेक्षण - भावतया कृतम्।
मनसि दुःखमतीव समुद्वहन्,
प्रवदितुं निज-निर्णयमुद्यतः॥

(२०-२१)

उपगतो नृपमेक - गुमेवकः,
समधिगम्य तदशि - कृतेङ्गितम्।
निज - समीपमुपागतमीक्ष्य स,
नृप इद वचनं निदिदेश तम्॥

गत - निशीथ - पलेषु मया हृदः,
स्थिरतया कृतमत्र विनिर्णयम्।
स्वभिमतं मम मन्त्रि - गणैस्तथा,
बुध ! समर्पय येन पठाम्यहम्॥

(२२)

अनुचरेण तथैव कृते सति,
प्रतिपलं सुचिरात् प्रतियाञ्छितम्।
जनतयाऽत्र सुदर्शन - निर्णयम्,
वदितुमुत्थितवान्नृप आसनेत्॥

(१७)

राजा का यह वचन सुनकर भी सुदर्शन ने मन में कुछ सोचकर उसे अनसुना कर दिया। उसने न कुछ उत्तर दिया और न राजा की ओर देखा ही।

(१८)

वह पत्थर पर उत्कीर्ण प्रतिमा की तरह, आँखें मूँदे समाधिस्थ योगी के सदृश स्थिरता मय सुखासन में अवस्थित सिद्ध के समान अत्यन्त स्थिर तथा अविचल रहा।

(१९)

राजा सुदर्शन को प्रारम्भ से ही उपेक्षापूर्ण मनोवृत्ति में देख, मन में अत्यन्त दुःखित होता हुआ अपना निर्णय घोषित करने को तत्पर हुआ।

(२०-२१)

राजा के नेत्र का संकेत पाकर एक सेवक पास आया। राजा ने उसे आदेश दिया कि कल आधी रात के समय अपना मन सुस्थिर कर मन्त्रियों की सम्मति से मैंने जो निर्णय किया, तत्सम्बन्धी पत्र मुझे यहाँ लाकर दो, मैं पढ़कर सुना दूँ।

(२२)

सेवक ने वैसा ही किया। जनता क्षण-क्षण जिसे सुनने की प्रतीक्षा कर रही थी, उसे प्रकट करने हेतु राजा सिंहासन से उठा।

(३०)

प्रकृति - यन्त्रित - काल-नियोजिते,
पर - दिने प्रभयाऽन्वित - भास्करे ।
नृ-हतका परिगृह्य सुदर्शनम्,
समुपनिन्युरनेक - वध - स्थलम् ॥

(३१)

वदन - मण्डल - शान्ति - चमत्कृतम्,
तमवलोक्य रणे जयिनं यथा ।
सम - सुदर्शिनमेव सुदर्शनम्,
जयतु सत्यमिति ध्वनिरुत्थितः ॥

(३२-३५)

अथ यदा वधकाः फलकोपरि,
तमुपवेश्य वधाय सुदर्शनम् ।
तदनुयोजयितुं वध-शूलकम्,
विपुल - तत्परतामुपचक्रिरे ॥
अपि भयस्य भवेन्मुख-मण्डले,
उडुपतेरिव तस्य महात्मनः ।
न च विषाद-कणो हृदयेऽभवन्,
सपदि योद्धुमसौ सह मृत्युना ॥
प्रयतते स्म नृसिंह इवारिणा,
दिति-सुतेन कयाधु-सधर्मिणा ।
अमर - मानव - किन्नर - रक्षसाम्,
अननुभूत - रणं परिपश्यताम् ॥
सुर - पति सुत - दार - समन्वितः,
दश-शताक्ष-गुरुः स्व-जनैः सह ।
दितिज - सद्गुरु - भार्गव - गोतमाः,
कविरिमे सहसैव समाययुः ।

(३६)

सुर-गुणाद् महतः सुर-नायकाः,
सुर-गणा दनुजा नहि केवलम् ।
अपि च षण्मुख-विष्णु-महेश्वरा,
विधि - महामुनयो मुदमाययुः ॥

(३०)

प्रकृति द्वारा नियन्त्रित-सञ्चालित काल-क्रम के अनुसार दूसरा दिन आया, भगवान् भास्कर की किरणें फूट पड़ी, जल्लाद सुदर्शन को उस वध-स्थल पर ले आये, जहाँ समय-समय पर अनेक अपराधी मौत के घाट उतारे जाते रहे थे ।

(३१)

सुदर्शन के मुख-मण्डल पर शान्ति की दिव्य ज्योति चमक रही थी । वह एक विजयी योद्धा जैसा प्रतीत होता । समदर्शिता का उदात्त भाव उसके व्यक्तित्व से छिटकता था । लोगों ने ज्योंही उसे देखा, उनके मुँह से सहज ही 'सत्य की जय हो' ऐसा घोष निकल पड़ा ।

(३२-३५)

जल्लाद सुदर्शन को शूली के तख्ते पर बिठाकर उसे (तख्ते को) शूली से जोड़ देने में तत्पर थे । बड़ा भीषण दृश्य था पर उस महामानव के चन्द्रमा जैसे सौम्य-मुख-मण्डल पर जरा भी भय व्याप्त नहीं हुआ । उसके हृदय में शोक का लेश भी नहीं था । दितिपुत्र, दैत्यराज हिरण्यकशिपु से घोर युद्ध करते भगवान नृसिंह के सदृश वह वीरतापूर्वक मृत्यु के साथ जूझ रहा था । यह एक ऐसा अद्भुत युद्ध था, जिसे देख रहे देव, मानव, किन्नर, राक्षस—सभी ने इससे पहले वैसा कभी नहीं देखा था। इस अभूतपूर्व अध्यात्म-संग्राम को देखने पुत्र, स्त्री, आदि सहित देवराज इन्द्र, अपने परिजनों के साथ देवगुरु बृहस्पति तथा दैत्य-गुरु भार्गव गोत्रीय शुक्राचार्य भी सहसा उपस्थित हो गये ।

(३६)

सुरपुरी—अमरावती में केवल अनेक देवनायक तथा उत्तम देव आदि ही नहीं आये वरन् देवाधिदेव, विष्णु, शंकर, ब्रह्मा तथा बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी भूलोक में आ पहुँचे ।

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

(३७-४२)

हाथी, मोर, बन्दर, चीते, अन्यान्य वन्य प्राणी, पशु गगन विहारी पक्षी, केवल स्थावर जगत् को छोड़कर सभी जङ्गम जन्तु, कई जल में वास करने वाले जीव संसार में घटित होने जा रही इस अत्यन्त विचित्र घटना को देखने हेतु परम धैर्यशील, धर्म के अवतार स्वरूप, प्रज्ञाशील, मनिमानों में अग्रणी, व्रतपालक, सभी पदार्थों को समभाव से देखने वाले, अपनी आत्मा में समग्र विश्व का दर्शन करने वाले, संसार में एक प्रखर आध्यात्मिक चमत्कार उत्पन्न करने वाले, जगत् में अध्यात्म-बल की अभिनव पद्धति के सर्जक, अपनी माता की पावन कीर्ति के ध्वजरूप—अपनी जन्मदात्री माँ की यशस्विता स्थापित करने वाले, धर्म में अत्यन्त निरत, निर्मल चारित्र्य के धनी, भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र की तरह दिव्य तथा स्वच्छ कमल के समान प्रिय दीखने वाले हृदय रूपी आकाश में सूर्य के समान ज्ञान का आलोक उजागर करने वाले, काम, अहङ्कार, अज्ञान आदि आत्म-शत्रुओं के विमर्दक, ममता के धारक, सांसारिक धन-दौलत को तुच्छ समझने वाले, संसार के सभी स्थावर, जङ्गम प्राणियों को सत् कार्य (रूपी रज्जू) से बाँधकर मैत्री भाव को व्यापक बनाने वाले सेठ सुदर्शन के पास अत्यन्त प्रसन्नता और प्रेम के साथ आये। गीले वस्त्र से चूते पानी की तरह उनकी आँखों से आँसू झर रहे थे। उनका हृदय करुणा-विगलित था, मुँह पर अत्यन्त विषाद छाया था।

(४३)

सभी दर्शक अपने-अपने आसनों पर भली-भाँति बैठ गये। तत्पश्चात् राजाधिराज दधिवाहन ने सिंहासन से खड़े होकर जल्लादों को सम्बोधित करते हुए शूली का चक्का घुमाने की उन्हें आज्ञा दी।

[इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।]

(४४)

बद्धीभूतमिमं सुदर्शन-वणिक्पुत्रं कलत्रेण मे,
सङ्गन्तुं कृत-चेष्टमुद्धततया-पाखण्डिन काकवत् ।
धूर्तं मौन-पटावृतं रहसि च श्वान दुराचारिणम्-
शूलेनैनमसाधुमाप्त - मुनिवत् सन्दर्शितं योजय ॥

(४५)

शूलाग्र्योजित-पुष्ट-काष्ठ फलके दण्डाय यो योजितः,
राजाऽऽदेश-सुपालकः प्रवधको राजाज्ञया नोदितः ।
श्रेष्ठं धर्मि - सुदर्शनं तमनुसंसृत्यैव तद्दारुण-
च्छिद्रादुत्थित-दारुणेन भयवच्छूलेन सो प्योजयत् ॥

(४६)

सच्छ्रेष्ठी स सुदर्शनोऽपि मृतवत् तच्छूल-पट्टोपरि,
मांसस्यैव सुपिण्डवत् प्रपतित सर्वैः समालक्षितः ।
सर्वे तेऽप्यवचिन्तयन्ति यदसौ शूलेन तत्कालतः,
सञ्छिन्नः शकलेषु मृत्कण इव प्रावत्स्यते निश्चितः ॥

(४७)

इत्थं तेषु विचिन्तयत्सु सपदि श्रेष्ठी, स वीरो महान्,
अश्रौषीद् गगनाऽऽगतां गिरमिमां भो पुण्यशालिन्नर ।
एषा ते चरितस्य शुद्ध-यशसो जाता परीक्षेति ते,
जानन्तु प्रवराः सुरा नर-वरा धीरस्त्वमुत्तीर्णवान् ।

(४८)

एतल्लोह-सुशूलकः प्रभवतु स्वर्णस्य सिंहासनम्,
यूयं पश्यत जन्तवस्त्रि-भुवने सर्वे सुहर्षान्विताः ।
श्रुत्वेदं विमलं नभश्चर-वचः सूत्फुल्लनेत्राः पपुः,
सौन्दर्यञ्च सुदर्शनस्य सततं सिंहासनस्थस्य ते ॥

(४८)

मेरी रानी के साथ बलात्कार करने की [illegible]
तरह पाखण्डी, मौन रूपी वस्त्र से अपनी पूर्त [illegible]
तरह कुकर्म करने को उद्यत, विश्वास योग्य [illegible]
वाले इस असाधु—नीच वणिक्पुत्र सुदर्शन को शूली [illegible]

[यहां से ४८ वें श्लोक तक शार्दूलविक्रीडित [illegible]

(४५)

शूली से जुड़ने वाले मजबूत काठ के पट्टे [illegible]
हेतु नियुक्त जल्लाद ने राजा की आज्ञा का [illegible]
शूली के तख्ते पर बिठाया, तख्ते के छेद से भयंकर [illegible]

(४६)

सबने देखा—शूली के तख्ते पर [illegible]
था। सब सोचने लगे—सुदर्शन का अब [illegible]
साथ दुःखद अन्त हो जायेगा।

(४७)

सभी यों सोच ही रहे थे कि [illegible]
वाणी सुनी—पुण्यात्मन् मानव! तुम्हारे [illegible]
तुम बड़े धैर्यशील हो, परीक्षा में उत्तीर्ण [illegible]
यहां उपस्थित देव, मनुष्य [illegible]

[illegible]

यह लोहे का कठोर शूल [illegible]
उपस्थित तीनों लोकों के प्राणी [illegible]
यह दैवी आकाशवाणी [illegible]
पर विराजित सुदर्शन की शोभा [illegible]

([illegible])

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

(४६)

राजा दधिवाहन ने कहा—अपने उज्ज्वल चरित्र के यश की आभा से देदीप्यमान, महिमामय धार्मिक पुरुष सेठ सुदर्शन वास्तव में धन्य है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव प्रसूत गुण-रूपी रस्से से सबको बाँधकर चक्र की भाँति घुमाता हुआ—सब दिशाओं से लोगों को अपने सद्गुणों के कारण अपनी ओर खींचता हुआ यह अपना जन-विश्रुत नाम (सुदर्शन) जिसके प्रारम्भ में 'सु' तथा अन्त में दर्शन है, सार्थक कर रहा है।

[इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है।]